मनोरंजन पुस्तकमाला-४१

कर्त्तव्य

(सेमुएल स्माइल्स की ड्यूटी नामक पुस्तक के आधार पर लिखित)

लेखक
रामचंद्र वर्म्मा

१९८०

काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा
द्वारा प्रकाशित

मूल्य १।)

प्रकरण-सूची

कर्त्तव्य

पहला प्रकरण

कर्त्तव्य और अंतःकरण

मनुष्य का जीवन केवल अपने ही लिये नहीं है। उसका जीवन अपने लिये भी है और दूसरों के उपकार के लिये भी। प्रत्येक मनुष्य का—चाहे वह अरबपति हो और चाहे अत्यंत दरिद्र—कुछ न कुछ कर्त्तव्य हुआ करता है। कुछ लोगों के लिये जीवन आनंददायक होता है और कुछ लोगों के लिये कष्टदायक। पर जो लोग श्रेष्ठ और महात्मा होते है, वे कभी सिर्फ अपने ही आराम की यहाँ तक की नाम की भी परवा नहीं करते।* उन्हें कार्य में प्रवृत्त करनेवाली शक्ति बहुत ही आशापूर्ण हुआ करती है, वे प्रत्येक शुभ कार्य्य में सहायक हुआ करते हैं।

ईश्वर तथा मानव-जाति के प्रति इस संसार में हमारे जो कर्त्तव्य है, निरंतर और दृढ़तापूर्वक उनका पालन करने के लिये उन सारी शक्तियों के संस्कार और परिवर्द्धन की

---

* स्वार्थो यस्य परार्थ एव स पुमान् एक सता अग्रणी (भर्तृहरि) अर्थात् परार्थ को ही जिस मनुष्य ने अपना स्वार्थ बना लिया है वही सब सत्पुरुषों में श्रेष्ठ है।

आवश्यकता होती है जो परमेश्वर ने हमें प्रदान की हैं। और परमेश्वर ने हमें सब कुछ दिया है। उसी सर्वशक्तिमान् की शक्ति हमें प्रेरणा करती और मार्ग दिखलाती है। भले और बुरे, उचित और अनुचित का ज्ञान ही हमें इस संसार में लोगों के प्रति और परलोक में ईश्वर के सामने उत्तरदायी बनाता है।

कर्त्तव्य का क्षेत्र अनंत है। जीवन के प्रत्येक अवसर में उसका अस्तित्व रहता है। और सब तरह की जोखिम उठा-कर और कठिनाइयाँ झेलकर उस कर्त्तव्य का पालन करना उच्चतम सभ्य जीवन का सार है। बड़े बड़े शुभ कृत्यों के लिये मनुष्य को सदा कर्म करना चाहिए और आवश्यकता पड़ने पर उनके लिये प्राण तक दे देना चाहिए।

बहुधा कर्त्तव्य-पालन का उत्तरदायित्व सैनिकों पर अधिक समझा जाता है। प्राचीन काल में इटली में पांपिआई नामक एक नगर था। लगभग अठारह सो वर्ष हुए, वह नगर विसूवियस नामक ज्वालामुखी पर्वत के प्रकोप से नष्ट हो गया। जिस समय ज्वालामुखी का प्रकोप हुआ, उस समय और लोग तो भाग गए, पर एक संतरी अपने पहरे पर बरा-बर खड़ा रहा। पहरे पर खड़ा रहना उसका कर्त्तव्य था। वह उस स्थान की रक्षा करने के लिये नियुक्त किया गया था; इसलिये वह अपने स्थान से नहीं हटा। पर्वत से निकलने-वाले धूएँ से उसका दम घुट गया और वह मर गया, पर तो

भी वह अपने स्थान पर ही डटा रहा। उसका शरीर जलकर राख हो गया, पर उसकी स्मृति आज तक बनी हुई है। उसकी बरछी, खोद और ढाल अब तक नेपुल्स के म्यूजियम में रखी हुई है।

वह सिपाही आज्ञा और कर्त्तव्य का पालन करनेवाला था। जिस कार्य के लिये उसकी नियुक्ति हुई थी, उसने वह कार्य किया। जो लोग उचित कर्म करना चाहते हों, उन्हें चाहिए कि सबसे पहले अपने माता-पिता, स्वामी और अफसर की आज्ञा का पालन करना सीखे। इस आज्ञाकारिता की शिक्षा बाल्यावस्था से ही आरंभ होनी चाहिए। पर अवस्था अधिक हो जाने से भी इसमें कोई बाधा नहीं पड़ती। हमें अंत समय तक आज्ञाकारी होना चाहिए। शुद्ध कर्त्तव्य इतना कठिन होता है कि उसके पालन के समय मनुष्य अपने आपको भूल जाता है। और इसी को वास्तविक कर्त्तव्य-पालन कहते हैं। कर्त्तव्य का पालन करने के समय इस बात का तनिक भी ध्यान नहीं करना चाहिए कि इसमें हमें इतना आत्म-त्याग करना पड़ेगा।

सर्वोत्तम कर्त्तव्य-पालन वही है जो गुप्त रूप से—बिना लोगों को दिखलाए हुए—किया जाय। इस प्रकार जो काम किया जाता है, वही सर्वोत्तम होता है। ऐसा कृत्य व्यर्थ अपनी प्रसिद्धि नहीं करता। उसका ध्येय और मार्ग इससे कहीं उत्तम और श्रेष्ठ होता है। इसके लिये प्रत्येक मानव जीवन

और प्रत्येक मानव कार्य्य को समस्त मानव जाति के सामने उत्तरदायी और उसका कल्याण करने के लिये बाध्य समझना चाहिए। हमारे दोष अथवा लापरवाही से किए हुए काम दिन पर दिन ऐसा ऋण बढ़ाते जाते हैं जिसका परिशोध मनुष्यत्व को कभी न कभी अवश्य करना पड़ेगा।

अब प्रश्न यह है कि मनुष्य को अपने कर्त्तव्य का पालन करना किस प्रकार सीखना चाहिए। इसके लिये सबसे पहली बात तो यह है कि मनुष्य यह समझे कि ईश्वर के प्रति मेरा क्या कर्त्तव्य है। तदुपरांत वह यह देखे कि अपने कुटुंब और अपने पड़ोसियों के प्रति मेरा क्या कर्त्तव्य है, मालिकों का नौकरों के प्रति और नौकरों का मालिकों के प्रति क्या कर्त्तव्य है। एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य के प्रति क्या कर्त्तव्य है और अपने राज्य के प्रति—नागरिकों के प्रति भी जिसका कुछ कर्त्तव्य है—उसका क्या कर्त्तव्य है।

इसमें से अधिकांश कर्त्तव्य ऐसे हैं जो निजी रूप से ही किए जाते हैं। हमारे सार्वजनिक जीवन से बहुत से लोग परिचित हो सकते हैं, पर हमारा आंतरिक जीवन—आत्मिक व्यापार—ऐसा होता है जिसे कोई देख नहीं सकता। अपने को श्रेष्ठ या नीच बनाना हम पर ही निर्भर है। यदि हम अपने आपको और अपने दूसरे भाइयों को कुछ भी अधिक उत्तम, सदाचारी और सज्जन बना सकें तो मानो हम अपनी शक्ति-भर शायद सब कुछ कर चुकेंगे।

अब एक उदाहरण लीजिए जिससे यह प्रकट होगा कि एक अमेरिकन किस प्रकार अपने कर्त्तव्य पर दृढ़ रहा।

प्रायः सौ वर्ष हुए, अमेरिका के न्यू इंगलैंड प्रांत में एक वार सूर्यग्रहण लगा था। उस समय बहुत अधिक अंधकार छा गया था और ऐसा जान पड़ता था कि मानो प्रलय में अब अधिक विलंब नहीं है। उस समय वहाँ की प्रधान सरकारी काउंसिल की बैठक हो रही थी। जब अंधकार बहुत बढ़ गया तब एक मॅबर ने प्रस्ताव किया कि काउंसिल का काम इस समय बंद कर दिया जाय और दूसरे दिन हो। इस पर दूसरे मेंबर ने उठकर कहा कि प्रलयकाल में भी हम लोगों को अपने स्थान पर दृढ़ रहकर कर्त्तव्य का पालन करना चाहिए। उसने कहा कि अभी रोशनी मँगवानी चाहिए और काउंसिल का काम होना चाहिए। अपने कर्त्तव्य का दृढ़तापूर्वक पालन करते रहना ही उस बुद्धिमान् मनुष्य का मूल सिद्धांत था और तदनुसार उसने अपने कर्त्तव्य का पालन भी किया था।

एक परोकारी महात्मा का जिक्र है कि वह नगर में घूम घूमकर रोगियों को देखा करता था और घंटों उनके पास बैठकर उनकी सेवा-शुश्रूषा किया करता था। एक तो उसका शरीर बहुत दुर्बल और कोमल था और दूसरे अपनी इस परोपकारिणी वृत्ति के कारण उसे अपना काम धंधा देखने का समय न मिलता था। एक बार उसके कुछ मित्रों ने उससे

[illegible] तुम अपना काम धंधा नहीं देखते और दिन रात रोगियों की सेवा में लगे रहते हो: यदि स्वयं तुम बिमार पड़ गये तो क्या होगा ? इस पर उस परोपकारी महात्मा ने बहुत ही दृढ़ता और सरलतापूर्वक उत्तर दिया—"मुझे अपने परिवार और बाल-बच्चों के लिये अपना काम धंधा देखना पड़ता है। पर मेरा यह मत है कि समाज के प्रति मनुष्य का जो कर्त्तव्य है, उसके अनुसार उसे उन लोगों की भी चिंता रखनी चाहिए जो उसके परिवार के नहीं हैं।"

उक्त वाक्य एक कर्त्तव्यनिष्ठ महात्मा का है। मानव जाति का वास्तविक कल्याण करनेवाला वह मनुष्य नहीं है जो उसके लिये अपना धन अर्पण करता है, बल्कि सच्चा कल्याण और उपकार उसी के द्वारा होता है जो अपने आपको अर्पण कर देता है। इस काम के लिये जो मनुष्य अपना धन देता है, उसकी तो प्रसिद्धि होती है; पर जो मनुष्य अपना समय, बल और शरीर देता है, लोग उसपर श्रद्धा और प्रेम करते हैं। संभव है कि धन देनेवाले की स्मृति कुछ अधिक समय तक बनी रहे और समय तथा शरीर अर्पण करनेवाले को लोग भूल जायँ, पर तो भी जिस सुंदर प्रभाव का बीज वह बो जाता है, उसका कभी नाश नहीं होता।

प्रश्न हो सकता है कि कर्त्तव्य का मूल आधार क्या है ? एक बड़े विद्वान् ने कर्त्तव्य को स्वतंत्रता पर निर्भर और स्थित बतलाया है। सार्वजनिक कर्त्तव्यों का पालन करने

तथा अपना व्यक्तिगत आचरण सुधारने के लिये सब लोगों को स्वतंत्र होना चाहिए। जिस प्रकार मनुष्य को सोचने विचारने की स्वतंत्रता है, उसी प्रकार उसे कार्य करने की भी स्वतंत्रता होनी चाहिए। साथ ही यह भी है कि स्वतंत्रता से प्रायः भलाई की अपेक्षा बुराई ही अधिक हो सकती है। एक मनुष्य के किए हुए अन्याय या अत्याचार की अपेक्षा जन-समूह का किया हुआ अन्याय या अत्याचार कहीं अधिक बुरा होता है। एक अमेरिकन विद्वान् का मत है कि आज-कल की स्वतंत्रता ने लोगों को बड़े आदमियों की पुरानी गुलामी से छुड़ाकर बहुमत का गुलाम बना दिया है।

लोगों में यह विचार बहुत हाल में फैला है कि सब मनुष्यों को समान रूप से स्वतंत्रता होनी चाहिए। प्राचीन काल में जो लोग बड़े आदमी या स्वतंत्र होते थे, वे दूसरों को अपनी गुलामी में रख सकते थे। गुलामी की यह प्रथा किसी न किसी अंश में प्रायः सभी देशों में थी। धीरे धीरे सभ्यता की वृद्धि के साथ पुरानी गुलामी तो दूर होती गई, पर उसका स्थान एक ऐसी गुलामी लेती गई जिसका रूप तो पहली गुलामी की अपेक्षा अधिक अस्पष्ट और अव्यक्त था, पर जिसका परिणाम या फल कदाचित् ही उसकी अपेक्षा कुछ कम हो।

पर इस स्वतंत्रता से भी कहीं बढ़कर एक और चीज है जिसे अंतःकरण या मनोदेवता कहते हैं। इस शक्ति की प्रधानता

प्रायः सभी देशों में बहुत प्राचीन काल से मानी जाती है। हमारा भारतवर्ष तो अध्यात्म विद्या का उद्गम स्थान है ही; और यदि हमारे यहाँ के प्राचीनतम ग्रंथों और शास्त्रों में मनोदेवता की पूरी पूरी विवेचना की गई हो और उसकी महत्ता मानी गई हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। पर अन्य कई प्राचीन जातियों ने भी इसका अस्तित्व और महत्त्व स्वीकार किया है। यूनानी कवि मेनांडर ने जो ईसा से तीन सौ वर्ष पहले हुआ था, एक स्थान पर कहा है—"हमारे हृदय में एक देवता रहता है, और वह देवता हमारा अंतःकरण या मनोदेवता है।" एक स्थान पर वह यह भी कहता है—"केवल अपने लिये ही जीना कोई जीना नहीं है। (परोपकाराय सतां विभूतयः) उत्तम कार्य करते समय सदा प्रसन्न रहो और विश्वास रखो कि शुभ साहस में परमेश्वर भी सहायक होता है। मनुष्य को जिस चीज की सबसे अधिक आवश्यकता है, वह "उदार हृदय" है।"

अंतःकरण वा मनोदेवता* हमारी आत्मा की वह विलक्षण शक्ति है जिसे हम धार्मिक सहजज्ञान कह सकते हैं। उसका अस्तित्व हमें उस समय मालूम होता है जब विचार या मन में भले और बुरे दो पक्ष उत्पन्न होते हैं अथवा जब हमारे मन पर अधिकार करने के लिये पाप और पुण्य, कुकर्म

---

*मनोदेवता संबंधी सर्वोत्तम विवेचन गीतारहस्य के छठे प्रकरण में किया गया है, जिन्हें आवश्यकता हो वहां देख लें।

और सत्कर्म में झगड़ा चलता है। यहीं उस मनोदेवता की सहायता से मनुष्य में कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का विचार उत्पन्न होता है। धार्मिक भावों की सृष्टि का आरंभ-स्थान यही है। भले और बुरे, पुण्य और पाप के इस झगड़े से मनुष्य में आत्म-ज्ञान उत्पन्न होता है। मनोदेवता मनुष्य को बतला देता है कि कौन सा काम श्रेष्ठ और कौन सा निकृष्ट है, कौन सा करने योग्य है और कौन सा करने योग्य नहीं है। उस समय उसे इस बात का अधिकार होता है कि वह दोनों पक्षों में से किसी एक को ग्रहण कर ले; और इसी अधिकार या स्वतंत्रता के कारण वह उत्तरदायी होता है।

यों चाहे कहने को हम लोग सब कुछ कह दें और करने को सब कुछ कर डालें, पर वास्तव में किसी विशिष्ट विचार के अनुसार कार्य करने के लिये हम कभी बाध्य नहीं हैं। हमारे मन में बुरे विचार उत्पन्न हो सकते हैं; पर उन बुरे विचारों के अनुसार कार्य करने के लिये कोई हमारा गला नहीं दबा सकता। हममें उस विचार का विरोध करने और उसे रोकने या दबाने की पूरी पूरी शक्ति है। यह बात दूसरी है कि हम उस शक्ति का उपयोग न करें और बुरे विचारों को अपने ऊपर अधिकार कर लेने दें। मनुष्य तरह तरह के और विशेषतः बुरे काम करने से अवश्य रोका जा सकता है। यदि यह बात न होती तो सारी दुनिया में इतने कायदे कानून न बनते। यह इस बात का बहुत अच्छा

प्रमाण है कि मनुष्य जो कुछ सोचता है, सदा सर्वदा वह उसी के अनुसार कार्य करने के लिये बाध्य नहीं है। प्रवृत्तियों और वासनाओं को पूर्ण करने के समय हम स्वयं ही यह बात अच्छी तरह समझते हैं कि यदि हम चाहें, तो सहज में ही उन्हें रोक सकते हैं। पर फिर भी हम जान बूझकर अपने आपको उनके अधीन कर देते हैं और अपनी उस शक्ति का तनिक भी उपयोग नहीं करते जो सहज में ही उन बुरी वासनाओं को दबाकर उन्हें हमारे अधीन कर देती है।

सर्वश्रेष्ठ आत्मिक स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिये मनुष्य का हृदय ज्ञान से प्रकाशित होना चाहिए। ज्यों ज्यों मनुष्य का ज्ञान बढ़ता जाता है और मनोदेवता का बल प्रकट होता जाता है, वह प्रसन्नतापूर्वक ईश्वरेच्छा को शुभ और कल्याणकारक समझकर उसके अनुसार कार्य करने लगता है। उस समय उसे इस बात का अनुभव होने लगता है कि ईश्वरेच्छा के अनुसार चलकर मैं कोई बहुत ही शुभ और महान् कार्य कर रहा हूँ। धार्मिकता और आस्तिकता ही संसार के सारे शुभ कृत्यों का मूल और आधार-स्तंभ है। पर धर्म और ईश्वर पर जिन लोगों का विश्वास नहीं होता, वे अपनी बुद्धि, वासना और स्वार्थ के वशीभूत हो जाते हैं। वे किसी काम को बुरा समझते हुए और मनोदेवता के विरोध करने पर भी, उस काम को कर ही डालते हैं। परिणाम यह होता है कि धीरे धीरे उनकी वह शक्ति घटती जाती

है जो वास्तव में ईश्वर ने उन्हें बुरे कामों से बचाने के लिये दी थी। दूसरी बार जब वह बुरी वासना मन में उत्पन्न होती है, तब उसका विरोध पहले की अपेक्षा कुछ कम हो जाता है। इसी प्रकार मनुष्य को धीरे धीरे बुरी बातों का अभ्यास पड़ जाता है। दुष्कर्म्म में सब से बड़ा दोष यह है कि उससे और दूसरे दुष्कर्म्मों की सृष्टि और वृद्धि होती है।

पर मनोदेवता का कभी अंत या नाश नहीं हो सकता। हम उसकी अवज्ञा कर सकते हैं, पर उसकी हत्या कभी नहीं कर सकते। यही कारण है कि प्रत्येक बुरा काम करने के समय हमारे मन को भीतर ही भीतर न जाने कौन कचोटता है। हमें उसका अनुभव अवश्य होता है, चाहे हम उसकी परवा करें और चाहे न करें। और परलोक तो दूर रहा, बहुधा इस लापरवाही का फल हमें इसी लोक में भुगतना पड़ता है।

मनोदेवता अविनाशी और सर्वव्यापी है। वह मनुष्य को आत्म-संयमी बनाता है और बुरी वासनाओं तथा विचारों को रोकता है। उसकी आज्ञाओं का पालन करना तथा अपनी इंद्रियों और वासनाओं को अपने वश में रखना प्रत्येक मनुष्य का परम कर्त्तव्य है। और इसी कर्त्तव्य के पालन से मनुष्य में वास्तविक मनुष्यत्व आता है। इस प्रकार मनुष्य सब प्रकार के पापों और दोषों से बचकर अपने बल पर खड़ा होता है और यथासाध्य मानव-जाति का कल्याण

करने में समर्थ होता है। उसे अपना कर्त्तव्य-पथ मालूम हो जाता है और संसार में सबसे अधिक आनंद केवल कर्त्तव्य पथ पर चलने से ही होता है।

जब मनोदेवता में पूर्ण बल आ जाता है, तब वह मनुष्य को वही श्रेष्ठ मार्ग दिखलाता है जिस पर चलने से उसे सब से अधिक प्रसन्नता हो सकती है; और जिन बातों से मनुष्य के दुखी होने की संभावना होती है, उनसे वह उसे रोक देता है। पर जिस समय हम उसकी अवज्ञा करते करते उसे दुर्बल कर देते हैं, उस समय हमें इंद्रिय-सुख ही सब से अच्छा मालूम होने लगता है। उस समय हमारे मन में जो भला-बुरा आता है, अपनी प्रसन्नता के लिये हम वही कर डालते हैं। पर इस संसार में हम केवल अपना ही परितोष करने के लिये नहीं भेजे गए हैं। प्रकृति की सभी बातें इसके विरुद्ध प्रमाण उपस्थित करती हैं। अपने मन को कभी नीच और तुच्छ वृत्तियों के अधीन न होने देना चाहिए।

यदि इंद्रियासक्त, स्वेच्छाचारी और स्वार्थी लोगों का एक अलग समूह हो जाय, तो उस समूह के लोग अनेक प्रकार के अनाचार और अत्याचार करके बहुत शीघ्र एक दूसरे का नाश कर डालेंगे। जर्मनी, रूस तथा फ्रांस आदि में कई ऐसे दल उत्पन्न हो गए हैं जिनके सिद्धांत नास्तिकता और स्वेच्छाचारिता के विचारों से ही पूर्ण हैं। ऐसे दलों के कारण उन देशों में जो जो अनर्थ हुए हैं, उनका वास्तविक

अनुमान कुछ वे ही लोग कर सकते हैं जो उन देशों के इतिहास और परिस्थिति आदि से भली भाँति परिचित हैं। ऐसे सिद्धांतों से मनुष्य, समाज, जाति और देश में अनीति और अनाचार की ही वृद्धि होती है।

इन सब दोषों से बचने का एक मात्र उपाय यही है कि मनुष्यों को उनका कर्त्तव्य बतलाया जाय। कर्तव्य-पालन से सदा सुख और समृद्धि की ही सृष्टि होती है। एक जर्मन विद्वान् का कथन है—"जीवन में यह बात विशेष ध्यान रखने योग्य है कि जिस समय हम सुख या दुःख की कोई परवा नहीं करते और दृढ़तापूर्वक केवल अपने कर्त्तव्यों के पालन में लग जाते हैं, उस समय सुख की सृष्टि आप ही आप—बल्कि अनेक प्रकार के दुःखों और चिंताओं के मध्य में भी—हो जाती है।" प्रसिद्ध विद्वान् गार्थ का मत है कि सब से अच्छा शासन वही है जो हमें अपने आपको वश में रखना सिखलाता है। प्रसिद्ध तत्त्ववेता प्लूटार्क ने राजा ट्रैजन से कहा था,—"तुम अपने शासन का आरम्भ अपने हृदय में ही करो और उसकी नींव अपनी वासनाओं के वशीकरण पर डालो"। इन वाक्यों से आत्म-संयम, कर्त्तव्य-पालन और मनोदेवता की महत्ता भली भाँति सिद्ध होती है।

जो कार्य केवल अपने लाभ या सुख के विचार से किए जाते हैं, उनकी अपेक्षा वे कार्य कहीं अधिक उत्तम होते हैं जो प्रेम या करुणा की प्रेरणा से अथवा कर्त्तव्य-पालन के विचार

से किए जाते हैं। धन के लिये किए जानेवाले कामों की अपेक्षा प्रेम के लिये किए जानेवाले काम हज़ार दरजे अच्छे हैं। दया, प्रेम या करुणा आदि के कारण जो काम किया जाता है, उससे मनुष्य का आत्मबल बढ़ता है और अनेक दूसरे सद्भावों की जाग्रति होती है। प्रत्येक मनुष्य का अपने समीपस्थ लोगों के प्रति कुछ न कुछ सेवा-धर्म्म हुआ करता है। वास्तव में जब तक कर्त्तव्य का विचार न हो, तब तक जीवन का महत्त्व बहुत ही कम है। जीवन का महत्त्व और अपना मनोबल प्रकट करने के लिये प्रत्येक मनुष्य को यथा-साध्य सत्यता, श्रेष्ठता, धैर्य्य, इंद्रियनिग्रह, संतोष, परो-पकारिता, उदारता, दया आदि सभी उत्तम गुणों का परिचय देना चाहिए। मि० डारविन ने मनुष्य और पशु में यही भेद बतलाया है कि मनुष्य में भले और बुरे के ज्ञान के लिये अंतः-करण या मनोदेवता होता है, उसे अपने कर्त्तव्य का ज्ञान होता है और अपने दुष्कृत्यों के लिये पश्चात्ताप होता है।

मनुष्य में जितने सद्भाव और सद्गुण होते हैं, उन सबकी शिक्षा परम-गुरु मनोदेवता या अंतःकरण से ही मिलती है। वही हमें अच्छे कामों की ओर प्रवृत्त करता और बुरे कामों से बचाता है। पूर्ण बलिष्ठ होने पर वह हमें ऐसे कामों की ओर प्रवृत्त करता है जिनसे औरों को सुख मिलता है, और जिन कामों से दूसरों को कष्ट पहुँचता है, उनसे वह हमें बचाता है। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण सीखने योग्य बात केवल

यही है कि अपने कर्तव्यों के पालन के लिये और उचित तथा न्यायसंगत कार्य करने के लिये मनष्य अपने आपको बलिष्ठ बनावे और ऐसे पदार्थों में आंतरिक सुख तथा शांति प्राप्त करने का प्रयत्न करे जो उससे छीने नहीं जा सकते।

कर्त्तव्य-पालन की सबसे अच्छी शिक्षा हमें यूनान के सर्व-श्रेष्ठ और आदि तत्ववेत्ता साक्रेटीस के जीवन चरित्र से मिल सकती है। ईसा से ४६८ वर्ष पूर्व एथेंस नगर में उसका जन्म हुआ था। बाल्यावस्था में उसने अच्छी शिक्षा प्राप्त की थी और युवावस्था में कुछ समय तक, देश के तत्कालीन नियमा-नुसार, सेना में भी काम किया था। अनेक युद्धों में भीषण प्रसंग आ पड़ने पर उसने अपनी वीरता और साहस का अच्छा परिचय दिया था। इसके बाद वह काउंसिल में प्रविष्ट हुआ जहाँ उसने अपने कर्त्तव्य का बहुत उत्तमतापूर्वक पालन किया। उस समय यूनानियों के धार्मिक विचार बड़े ही विलक्षण हो रहे थे। अनेक प्रकार के देवताओं पर उनका विश्वास अद्भुत रूप से बढ़ता जाता था। लोग सत्यपथ से हटकर भ्रम में पड़ते जाते थे। ऐसे समय मे साक्रेटीस ने घूम घूमकर उपदेश करना आरंभ किया। उसने मनुष्यों को इस लोक और परलोक में सुखी करने के लिये नैतिक आचार पर ही अधिक जोर दिया। धीरे धीरे बहुत से लोग उसके शिष्य और भक्त बन गए। एक धनवान् ने बहुत सा धन उसकी भेंट करना चाहा, पर उसने वह धन न लिया। उसने

कहा कि यदि मेरे परिश्रम से मानव जाति का कुछ भी कल्याण होगा, तो मैं उसीको अपने परिश्रम का सर्वोत्तम पुरस्कार समझूँगा।

साक्रेटीस ने पुस्तकें नहीं लिखी थीं। वह केवल मौखिक उपदेश करता था। वह कहा करता था कि पुस्तकें बीच बीच में शंकाओं का समाधान नहीं कर सकतीं। इसलिये उनसे लोगों को शिक्षा भी नहीं मिल सकती। उसका मत था कि सबसे अच्छी विद्या वही है जो मनुष्य को उसके नैतिक कर्त्तव्य बतला सके। वह प्रजासत्ताक राज्य का बड़ा विरोधी था। उसका सिद्धांत था कि केवल बुद्धिमान लोग ही शासन कार्य के लिये उपयुक्त होते हैं; और ऐसे लोग संख्या में बहुत ही कम हैं।

जब उसकी अवस्था बहत्तर वर्ष की हुई, तब उसपर यह अभियोग लगाया गया कि वह युवकों को भड़काता और बिगाड़ता तथा नास्तिकता का प्रचार करता है। उसे प्राण-दंड दिया जाना निश्चित हुआ। वह कारागार में भेज दिया गया जहाँ एक मास तक वह अपने मित्रों से अच्छे अच्छे विषयों पर वार्त्तालाप करता रहा। उसके एक भक्त ने उसे कारागार से भगा ले जाने का भी प्रबंध किया था, पर उसने इस प्रकार चोरों की तरह भागने से इनकार कर दिया। अंत में ज़हर का प्याला उसके सामने लाया गया और उसने बड़ी प्रसन्नता से उसे पी लिया।

उसके शिष्य प्लेटो की जीवनी भी बहुत ही शिक्षाप्रद है। साक्रेटीस की मृत्यु के समय प्लेटो की अवस्था चालीस वर्ष की थी। उस समय वह सिसली गया था। वहाँ का राजा बड़ा अन्यायी और अत्याचारी था। राजनीतिक विषयों में प्लेटो का उससे बहुत मतभेद था, इसलिये उसने आज्ञा दी कि प्लेटो एक दास की भाँति बेच दिया जाय। इसपर उसके एक मित्र ने उसे खरीदकर तुरंत छोड़ दिया। वहाँ से छूटकर वह एथेंस आया और वहाँ उपदेश करने लगा। वह सत्य, सदाचार और कर्त्तव्य-पालन का कट्टर पक्षपाती था। वह एक मात्र सत्य को ही परम धर्म्म और अंतिम ध्येय समझता था। उसने एक स्थान पर कहा है—"सब श्रेणी के लोगों को—चाहे वे सफल-मनोरथ हों और चाहे विफल-मनोरथ—सदा अपने कर्त्तव्यों का पालन करते रहना चाहिए और संतोष रखना चाहिए।"

अपने कर्त्तव्यों के पालन में बिना किसी प्रकार का आगा-पीछा सोचे लग जाना चाहिए और अपनी ओर से उसमें कभी कोई बात उठा न रखनी चाहिए। जो मनुष्य अपनी शक्ति भर अपना काम करता है, वह अवश्य उन्नति के मार्ग पर अग्रसर होता है। प्रत्येक मनुष्य अपने जीवन में कोई न कोई अच्छा काम कर सकता है, और जो कुछ वह कर सकता है, उसे करने के लिये वह बाध्य है। हममें अच्छे काम करने की जो शक्ति है, उस शक्ति का दुरुपयोग करने अथवा अपने

आपको नष्ट करने का हमें कोई अधिकार नहीं है। हममें जितनी शक्तियाँ हैं, उन सब का हमें सदुपयोग करना चाहिए; उनमें से एक को भी न तो व्यर्थ जाने देना चाहिए और न उनका कभी दुरुपयोग करना चाहिए। अपने मनोदेवता के आज्ञानुसार हमें सदा अपने कर्त्तव्य-पथ पर अग्रसर होते रहना चाहिए। वफादारी हमें उस गुलाम से सीखनी चाहिए जिसने किसी के यह पूछने पर कि—"अगर मैं तुम्हें खरीद लूँ तो क्या तुम वफादार रहोगे?" उत्तर दिया था—"जरूर। चाहे आप मुझे खरीदें, और चाहे न खरीदें, मैं हमेशा वफादार रहूँगा।"

आचरण ही मनुष्य का सबसे बड़ा बल है। छोटे बड़े सबका उद्देश अपना आचरण बनाना ही होना चाहिए। कुछ लोग यह समझते हैं कि निर्धन मनुष्यों का आचरण ठीक नहीं रह सकता; पर ऐसा समझना भारी भूल है। एक विद्वान् का मत है कि संसार में एक भी मनुष्य ऐसा नहीं है जिसमें ईश्वर की कृपा से इतनी सामर्थ्य न हो कि वह अपने मरने के उपरांत सर्वोत्तम और अनुकरणीय आचरण न छोड़ जाय। प्रेम-पूर्ण, आत्मत्याग और कर्त्तव्य के छोटे छोटे कामों से ही आचरण बनता है। प्रत्येक पदार्थ और प्रत्येक विचार थोड़े ही से बढ़कर अधिक या बड़ा होता है। थोड़ा सा गुण होना भी बहुत सा गुण होने के बराबर है और थोड़ा सा अवगुण होना भी बहुत सा अवगुण होने के बराबर है। गुणों से गुणों की

सृष्टि होती है और अवगुणों से अवगुणों की सृष्टि होती है। एक कवि कहता है,—

गन्दुम अज़ गन्दुम बरोयद जौ ज़ जौ।
अज़ मकाफ़ाते अमल ग़ाफ़िल मशौ ॥*

अर्थात्—गेहूँ से गेहूँ और जौ से जौ उत्पन्न होता है। अपने कृत्यों के परिणाम की ओर से निश्चिंत न रहो।

संसार में किया हुआ कोई कर्म्म निष्फल नहीं जाता। भले और बुरे सभी कामों का परिणाम हुआ करता है, चाहे वह हमें दिखाई पड़े या न पड़े। ऐसी दशा में हमें सदा शुभ कर्म ही करना चाहिए। कोई शुभ कर्म्म, कोई उत्तम उदाहरण कभी नष्ट नहीं होता। उसका बड़ा ही स्थायी और प्रभावशाली परिणाम हुआ करता है। यदि तुरंत ही किसी शुभ कृत्य का कोई परिणाम हमें न दिखाई पड़े, तो हमें घबराना न चाहिए,। उसका शुभ फल आगे चलकर अवश्य होगा। केवल एक ही शुभ कार्य्य से सारे गाँव, सारे नगर, बल्कि सारी जाति श्रेष्ठ बन सकती है और उन्नति के शिखर पर पहुँच सकती है। यदि एक बार मनुष्य में शुभ विचार आ जायँ और वह उत्तम कृत्य करने लगे, तो उसका फल सैंकड़ों हजारों वर्षों तक लोगों को मिलता रहता है। छोटे से बीज से ही बड़े बड़े सुंदर और विशाल वृक्ष उत्पन्न होते हैं। अपने मनोदेवता की छोटी सी आज्ञा मानने और साधारण सा कर्तव्य करने से भी सर्वोत्तम आचरण बन सकता है।

---

* گندم از گندم بروید جو ز جو — از مکافات عمل غافل مشو *

दूसरा प्रकरण

कर्त्तव्य-पालन

जो मनुष्य एक बार अच्छी तरह अपना कर्त्तव्य समझ ले, उसे तुरंत उसके पालन में लग जाना चाहिए। केवल कार्य्य करना ही हमारी शक्ति में है। उन कार्य्यों से केवल हमारी आदतें ही नहीं बनतीं, बल्कि हमारा आचरण भी बनता है।

साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिए कि कर्त्तव्य-पथ पर चलना कुछ सहज काम नहीं है। उसमें अनेक बाधाएँ और कठिनाइयाँ होती हैं। उन कठिनाइयों को हम देख तो लेंगे, पर उन्हें दूर करने का साहस हममें न होगा। जो मनुष्य दृढ़निश्चयी न होगा, उसके मार्ग में बड़ी बड़ी कठिनाइयाँ पड़ेंगी। वह सब कुछ देखेगा, सोचेगा, समझेगा, पर उसके किए कुछ हो न सकेगा।

यदि मनुष्य उन कठिनाइयों से न डरकर कार्य करने का साहस करे, तो दूसरा भय उसे लोकापवाद का होगा। जो मनुष्य कोई काम करने के समय यह सोचने लगेगा कि,— "लोग क्या कहेंगे?" वह कभी कोई काम न कर सकेगा। पर हाँ, जो मनुष्य यह सोचेगा कि,— "क्या यह मेरा कर्त्तव्य है?" वह अवश्य कार्य में लग जायगा और लोगों

का अपवाद, बल्कि उपहास तक सहने के लिये तैयार हो जायगा। एक विद्वान् का उपदेश है कि हमें अच्छे कामों में सदा दृढ़ विश्वास और श्रद्धा रखनी चाहिए और संदेह तथा अविश्वास को बुरे कामों के लिये छोड़ देना चाहिए।

कर्त्तव्य-पालन की पहली शिक्षा घर में मिलती है। जिस समय बालक जन्म लेता है, उस समय वह स्वयं कुछ भी नहीं कर सकता। उसका लालन-पालन, शिक्षा-दीक्षा सब कुछ दूसरे ही करते हैं। धीरे धीरे उसमें समझ आने लगती है। वह आज्ञा-पालन करना, अपने आपको वश में रखना, दूसरों के साथ सद्व्यवहार करना और प्रसन्न रहना सीखता है। उसमें निज की इच्छा-शक्ति होती है; पर उस शक्ति का अच्छे या बुरे मार्ग में लगना उसके माता पिता की शिक्षा और प्रभाव पर निर्भर होता है।

इसी इच्छा-शक्ति या प्रवृत्ति को ठीक रखना ही जीवन का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण अंग है। एक बार जब वह बन या बिगड़ जाती है, तब वह सदा के लिये स्थायी हो जाती है, फिर उसमें किसी प्रकार का परिवर्त्तन नहीं हो सकता। जब कोई सत्यनिष्ठ मनुष्य अपनी आंतरिक प्रवृत्ति की प्रेरणा से एक बार किसी अच्छे काम में लग जाता है, तब वह अच्छे से अच्छे पुरस्कार या यश को भी कोई चीज़ नहीं समझता। उसका सबसे अच्छा पुरस्कार उसके मनोदेवता का संतोष ही होता है।

यदि इच्छा-शक्ति के अच्छे या बुरे होने का विचार छोड़ दिया जाय, तो वह केवल दृढ़ता के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। पर इसमें संदेह नहीं कि यदि उसे अच्छे मार्ग में न लगाया जायगा तो वह अवश्य बुरे मार्ग में लग जायगी। दुष्टों में रहकर वह अनेक प्रकार के उपद्रव और अत्याचार करती है।। वह मनुष्य को सिकंदर भी बना सकती है और नेपोलियन भी। सिकंदर को इसी बात का रोना था कि अब मेरे जीतने के लिये कोई राज्य नहीं बच रहा। और नेपोलियन ने सारे युरोप को परास्त करके रूस के बरफीले मैदानों में अपनी शक्ति नष्ट की। उसने कहा था,—"विजय ने ही मुझे बनाया है और वही मेरा निर्वाह करेगी।" पर उसका कोई उत्तम नैतिक सिद्धांत नहीं था, इसलिये जब उसका नाशक कार्य समाप्त हो चुका, तब युरोप ने उसे एक कोने में हाथ-पैर बाँधकर बैठा दिया।

उत्तम विचारों से युक्त इच्छा-शक्ति से बढ़कर और कोई अच्छी बात नहीं हो सकती। जिस मनुष्य में ऐसी शक्ति होती है, वह स्वयं अच्छे काम करता है और दूसरों को भी कर्त्तव्य का मार्ग दिखलाता, अपने अच्छे उद्देशों की पूर्त्ति में उन्हें सहायक बनाता तथा बुराइयों को दबाने और भलाइयों को बढ़ाने का प्रयत्न करता है। धैर्य्य और अध्यवसाय उसके स्वभाव का एक अंग बन जाते हैं और वह जिस मंडली या समाज में रहता अथवा जिस जाति या देश में उत्पन्न होता

है, उसकी शोभा तथा कीर्त्ति बढ़ाता है; और डरपोक या निरुत्साही मनुष्यों को उत्तेजित करके तथा निकम्मे और सुस्त आदमियों को उत्साहित करके अच्छे अच्छे कार्यों में लगाता है।

बहुत से लोग ऐसे भी होते हैं जिनमें या तो निज की इच्छा-शक्ति बिलकुल नहीं होती, और या बहुत ही दुर्बल होती है। ऐसे लोग आचरणहीन हुआ करते हैं। स्वयं न तो उनकी प्रवृत्ति भले कामों में होती है और न बुरे कामों में। वे न आगे बढ़ते हैं और न पीछे हटते हैं। जब जिधर हवा चलती है, तब वे उधर ही लुढ़क पड़ते हैं। थोड़ा सा प्रभाव डालकर उनसे सब कुछ कराया जा सकता है। समाज में बहुधा ऐसे ही लोग पाए जाते हैं। लापरवाह, संकोची, निकम्मे और शौकीन या सैलानी आदि लोग सब इसी श्रेणी के हैं।

इसलिये इच्छा-शक्ति को सबल, दृढ़ और संस्कृत करना सबसे अधिक आवश्यक और महत्वपूर्ण है; क्योंकि इसके बिना स्वतन्त्रता, दृढ़ता या आचरण की पुष्टि हो ही नहीं सकती। बिना इसके न तो हम सत्कर्म कर सकते हैं और न दुष्कृत्यों से बच सकते हैं। इच्छा-शक्ति के सुधार का सबसे अच्छा समय युवावस्था है। जीवन में कुछ विशिष्ट समय हुआ करता है, जब कि मन उच्च और उदार बनाया जा सकता है, बहुत सा ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है; और यह समय युवावस्था का ही--केवल थोड़े से वर्षों का ही है।

यदि उस समय हम उदासीन हो जायँगे, तो फिर आगे चलकर उसके दोषों का परिहार असंभव हो जायगा।

एक बड़े विद्वान् का मत है कि बुद्धिमत्ता हमारे मस्तिष्क में नहीं बल्कि हमारे हृदय में रहती है और जीवन में होनेवाली मूर्खताओं, हानियों और अव्यवस्थाओं का मुख्य कारण ज्ञान का अभाव नहीं होता, बल्कि इच्छा-शक्ति की दृढ़ता का अभाव होता है। आप हजारों तर्क-वितर्क कर सकते हैं और दुनिया भर की बातें सोच सकते हैं, और फिर भी आपसे कुछ नहीं होता। ज्ञान इस प्रकार हमारे कार्य करने में बाधक हुआ करता है। वास्तव में पढ़ना-लिखना और ज्ञान प्राप्त करना उतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना लोग उसे समझते हैं। अच्छी बातों या प्रसन्नता से विद्या का कोई संबंध नहीं है। विद्या से कभी कभी मनुष्य की नम्रता जाती रहती है और उसमें घमंड आ जाता है। पढ़े लिखे लोग विचारशील तो अवश्य उच्च श्रेणी के हुआ करते हैं, पर ऊँचे दरजे की कर्म्मण्यता उनमें कदाचित् ही आती है।

जन-साधारण का सुधार एक साथ ही नहीं हो सकता। हाँ, व्यक्तिगत सुधार या उन्नति करने से समष्टि का भी सुधार हो सकता है। शिक्षक और उपदेशक उन्हें बाहर से ही उपदेश कर सकते हैं, पर वास्तविक शक्ति या उत्तेजना मनुष्य के भीतर, हृदय से उत्पन्न होती है। इसलिये प्रत्येक मनुष्य

को स्वयं कर्म्मशील बनने के लिये प्रयत्न करना चाहिए; शिक्षा और उपदेश आदि से उसे अधिक आशा न रखनी चाहिए।

पाठशाला की साधारण शिक्षा का भी नैतिक आचार से कोई संबंध नहीं है। केवल बुद्धि के संस्कृत हो जाने का ही हमारे आचारण पर कठिनता से कोई प्रभाव पड़ता है। बुद्धि तो कार्य करने का साधन मात्र है। यदि उससे काम लेनेवाला अच्छा होगा तो वह अच्छा काम करेगी. और यदि वह बुरा होगा तो बुद्धि भी बुरा काम करेगी। अतः प्रायः घर में ही बालकों में सद्गुण उत्पन्न किए जा सकते हैं, पाठशालाओं में नहीं। हाँ, यदि घर की परिस्थिति सद्गुण उत्पन्न करने के प्रतिकूल हो, तो पाठशाला से अवश्य कुछ लाभ हो सकता है। बालकों को घर में मिलनेवाली शिक्षा पाठशाला में मिलनेवाली शिक्षा से कहीं बढ़कर होती है।

अपने बालकों को उचित शिक्षा देना बड़ों का कर्त्तव्य है और बड़ों की आज्ञा का पालन करना छोटों का धर्म्म है। बालकों को साधारण शिक्षा के साथ साथ थोड़ी बहुत धार्मिक शिक्षा देना भी परम आवश्यक है। आत्म-त्याग, उच्च विचार तथा दूसरे उत्तमोत्तम गुण केवल धार्मिक शिक्षा ही से उत्पन्न किए जा सकते हैं। ऐसी शिक्षा का आत्मा और मन पर बहुत ही गहरा और शुभ परिणाम होता है, और इसी की सहायता से जीवन मे पड़नेवाली अनेक प्रकार की कठिनाइयों को धैर्य्य और आनंदपूर्वक सहन करने की शक्ति आती है। बालकों

को कुछ स्वतंत्र विचार और कार्य करने का भी सुभीता होना चाहिए। बालकों में सबसे पहले अच्छी आदतें डालने का प्रयत्न होना चाहिए, उनका बुद्धिबल बढ़ाना उतना अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है। अच्छी आदतें डालने के लिये उनके सामने अच्छे आदर्श और उत्तम उदाहरण रखने की आवश्यकता होती है, पर बुद्धिबल केवल पाठ पढ़ाकर ही बढ़ाया जाता है। उपदेशों की अपेक्षा उदाहरणों से कहीं अच्छी शिक्षा मिलती है।

प्रत्येक उचित कार्य्य को ठीक तौर से करना ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। केवल उत्तम प्रवृत्ति से ही काम नहीं चल सकता, आवश्यक है दृढ़ता और धैर्य्यपूर्वक काम करना। जो कार्य्य धैर्य और परिश्रमपूर्वक किया जाता है, उससे दूसरों पर एक बड़ा ही विलक्षण और चमत्कारपूर्ण प्रभाव पड़ता है। एक विद्वान् का मत है कि मानव-जीवन में कार्य्यों और अध्यवसाय की ही प्रधानता है। जितने अधिक उत्तम कार्य्य किए जायँ और जितना अधिक धैर्य्य और अध्यवसाय दिखलाया जाय, जीवन भी उतना ही अधिक फलदायक होता है।

उत्तम कार्य्य ही मनुष्य का सबसे अच्छा शिक्षक है। अकर्म्मण्यता से शरीर, आत्मा और मनोदेवता की अवनति और दुर्दशा ही होती है। संसार में जितनी बुराइयाँ और तकलीफ़ें दिखाई पड़ती हैं, उनमें से नब्बे प्रति सैकड़ा सुस्ती या

अकर्म्मण्यता के कारण ही उत्पन्न होती हैं। विना काम के मानव-कल्याण की वृद्धि कभी हो ही नहीं सकती। जो मनुष्य काम नहीं करता, उसकी दशा वड़ी ही शोचनीय होती है। काम करने के समय हमें इस वात का ध्यान रखना चाहिए कि जो काम हम उठाएँ, उसमें अपनी सारी शक्तियाँ लगा दें; नहीं तो वह कभी पूरा ही न होगा।

यदि हमारे सामने कठिनाइयाँ आ पड़ें, तो हमें उनकी तनिक भी परवा न करनी चाहिए। परिश्रम से बढ़कर और कोई मंत्र ही नहीं है। मन और शरीर की अकर्म्मण्यता लोहे के मोरचे या जंग के समान है। जो चीज काम में लाई जाती है वह अधिक दिनों तक चलती है; पर जिससे काम नहीं लिया जाता, जंग लग जाने के कारण, वह वहुत जल्दी नष्ट हो जाती है। मान लीजिए की कोई चीज काम में आने ही से अधिक घिसती या नष्ट हो जाती हो, तो भी काम में आकर उसका नष्ट होना, पड़े पड़े नष्ट होने की अपेक्षा कहीं अधिक उत्तम है। जीवन का सवसे अधिक आनंद और सुख कुछ न कुछ करते रहने में ही है।

हमारे मार्ग में कठिनाइयाँ वहुधा वहीं हुआ करती हैं जहाँ हमें उनके होने की आशा नहीं होती। जव कभी कोई कठिन अवसर या प्रसंग आ पड़ता है, तव संभवतः वह हमारी परीक्षा लेने और हमारी योग्यता सिद्ध करने के लिये ही आता है। यदि उस विकट अवसर पर हम दृढ़तापूर्वक खड़े रहें तो

हमारा मन अधिक शांत, शुद्ध और दृढ़ होगा। मनुष्य पर ज्यों ज्यों कठिनाइयाँ पड़ती हैं, त्यों त्यों उसके गुणों का केवल प्रकाश ही नहीं होता बल्कि विकाश भी होता है। सोना ज्यों ज्यों तपाया जाता है, उसकी कांति त्यों त्यों बढ़ती जाती है। कठिनाइयों से ही नैतिक आचरण की वृद्धि और पुष्टि होती है। उनका सामना सदा साहस और प्रसन्नतापूर्वक करना चाहिए। वास्तविक प्रसन्नता उद्देश की पूर्ति में नहीं है, बल्कि उसके लिए दृढ़तापूर्वक परिश्रम करने में है। कठिनाइयाँ दूर करने का सबसे अच्छा उपाय उनका सामना करना ही है। सफलता या उद्देश-सिद्धि वहीं होती है, जहाँ कठिनाइयाँ दूर की जाती हैं और बाधाओं का मूलोच्छेद होता है।

बिना परिश्रम और उद्योग किए ही किसी प्राप्ति की इच्छा करना दुर्बलता और अकर्मण्यता का बड़ा भारी चिह्न है। प्राप्त करने योग्य प्रत्येक पदार्थ केवल कार्य्य करने से ही मिलता है। यदि हम चुपचाप न बैठे रहें और दृढ़तापूर्वक काम में लग जाँय, तो आगे चलकर हमें मालूम हो जायगा कि उस कार्य्य के करते समय हमें जितनी वास्तविक प्रसन्नता हुई थी, उसके समाप्त करने पर, उद्देश की पूर्ति हो जाने पर—होनेवाली प्रसन्नता उतनी वास्तविक और अधिक नहीं होती। यदि हम मन लगाकर और अपनी सारी शक्तियों से कोई कार्य्य करें और उसमें विफलता ही हो जाय, तो भी कमसे कम हमें किसी बात का पछतावा न तो रह जायगा;

क्योंकि हमारा हृदय इस कारण संतुष्ट रहेगा कि हमने अपनी ओर से उसके लिये कोई बात उठा नहीं रखी। नहीं तो यों ही समय बीत जायगा और हम पछतायँगे कि हमने अमुक युक्ति नहीं लड़ाई और अमुक उपाय छोड़ दिया। इस प्रकार होनेवाले पश्चात्ताप की अपेक्षा वह संतोष कहीं अधिक उत्तम है जो अपनी ओर से कोई बात उठा न रखने के उपरांत होता है। उत्तम तो यह है कि भगवान् श्रीकृष्ण के उपदेश के अनुसार हम परिणाम या फल का ध्यान ही छोड़ दें और केवल कर्म्म ही करते रहें। हमारे हृदय में इस बात का विश्वास होना चाहिए कि जिस उत्तम कार्य्य का बीजारोपण हम करेंगे, उसमें अंकुर अवश्य फूटेगा; समय पाकर वह बढ़ेगा उसमें उत्तम फल लगेगा और लोग उससे लाभ उठावेंगे। जिस काम को मनुष्य अपने लिये आरंभ करता है, ईश्वर उसे दूसरों के लिये पूरा कर देता है।

वास्तव में किसी कार्य्य को पूरा करने की शक्ति तो हममें है ही नहीं। हम किसी कार्य्य को आरंभ करते हैं और उसे किसी हद तक पहुँचा कर छोड़ देते हैं, दूसरा उसे वहाँ से उठाकर कुछ और आगे पहुँचाता है। और इस प्रकार धीरे धीरे कई आदमियों की सहायता से वह काम पूरा होता है। हमें अपने पीछे केवल उत्तम आदर्श, अनुकरणीय उदाहरण छोड़ जाना चाहिए। हमारे कर्त्तव्य की इतिश्री यहीं हो जाती है। उस आदर्श और उदाहरण से लाभ उठाना आनेवाली पीढ़ी का काम है।

कुछ लोग यह समझते हैं कि हमसे संसार में कोई काम ही नहीं हो सकता। ऐसे लोग कभी किसी प्रकार का उद्योग नहीं करते और सदा आराम चाहते हैं। पर वे लोग यह नहीं जानते की सुख सदा अकर्म्मण्यता से कोसों दूर भागता है। सुख तक पहुँचना अकर्म्मण्यता की शक्ति के बाहर है। सुख और प्रसन्नता हमारे परिश्रम और कार्य्य के ही फल हैं, सुस्ती और अकर्म्मण्यता के नहीं।

पाठक जानते हैं कि अमेरिकावालों की सभी बातें विलक्षण हुआ करती हैं। सन् १८६८ में वहाँ के संयुक्त राज्यों के केपरन नामक एक नगर में एक बड़ी ही अद्भुत घटना हुई थी। एक युवक था जिसने बहुत सी अटपटांग किताबें पढ़कर अपना बुद्धिबल तो बहुत बढ़ा लिया था, पर उसे कर्त्तव्य, धर्म्म या सत्कार्य्यों का कुछ भी ध्यान न था। वह समझता था कि मुझसे इस संसार में कुछ न हो सकेगा। इसलिये उसने विज्ञापन दिया कि अमुक दिन अमुक स्थान पर मैं एक व्याख्यान दूँगा और तदुपरांत बन्दूक से आत्महत्या कर लूँगा। प्रत्येक आदमी के लिये एक डालर का टिकट लगाया गया। सारा हाल भर गया और बहुतसा रुपया आया। युवक ने पहले तो व्याख्यान दिया और तदुपरांत आत्महत्या कर ली। इस प्रकार वह मनुष्य अपराधी और हत्यारा बनकर उस न्यायकर्त्ता परमेश्वर के पास पहुँचा।

उस मनुष्य ने यह कृत्य या तो शेखी के मारे किया होगा

और या लोगों में सनसनी फैलाने के लिये। उसने समझा होगा कि मेरा नाम सब अखबारों में छपेगा और लोग मेरे साहस की प्रशंसा करेंगे। पर यह साहस नहीं था, बल्कि कायरता थी। संभवतः उस मनुष्य में शेखी ही सबसे अधिक थी और साथ ही साथ अकर्म्मण्यता भी उतनी ही मात्रा में थी। प्रसिद्ध अँगरेज कवि शेरिडेन ने सब प्रकार के मानसिक दोषों की अपेक्षा शेखी को ही सबसे अधिक बुरा बतलाया है। जो मनुष्य इस दोष से बच सकता है, वह और दोषों से सहज में ही बच जाता है; नहीं तो यह दोष बड़े बड़े अनर्थ और कुकर्म्म कराता है।

दृढ़ निश्चय की आवश्यकता केवल कठिन कार्य्य करने के लिये ही नहीं होती बल्कि हजारों तरह की कठिनाइयों को निर्भयता और आत्म-वशतापूर्वक पार करने के लिये भी होती है। सभी युगों में अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ हुआ करती हैं। नित्य हमें अनेक प्रकार के प्रलोभन भी मिलते हैं। पर कर्त्तव्य के ज्ञान और साहस की सहायता से हम सहज में उनका सामना कर सकते और उनपर विजय प्राप्त कर सकते हैं। थोड़े से साहस के अभाव के कारण ही संसार की बहुत बड़ी हानि होती है। हम किसी काम को करना तो चाहते हैं, पर उसे करते नहीं। पर संसार की स्थिति ऐसी है और वह काम पर इतना अधिक निर्भर करता है कि उसमें का प्रत्येक पदार्थ मानों चिल्ला चिल्लाकर कहता है

"कुछ काम करो। कुछ काम करो।" बहुत से लोग काम करने की सब तैयारियाँ तो कर लेते हैं, पर उन्हें आरंभ करने का साहस उनमें नहीं होता। नित्य बहुत से ऐसे लोग मरते हैं जिनमें यदि काम करने का कुछ भी साहस होता तो वे अनेक बड़े बड़े कार्य्य कर डालते।

जो मनुष्य बराबर परिश्रमपूर्वक कार्य्य करता रहता है, वही सब प्रकार की कठिनाइयों और विपत्तियों पर विजय प्राप्त करता है। संसार को तुच्छ और भ्रमजाल समझकर वैराग्य लेने और एकांत में रहने की अपेक्षा कर्मशील और उद्योगी पुरुषों के साथ रहना कहीं अधिक श्रेयस्कर है। एकांतवास कभी मनुष्य को स्वर्गतक नहीं पहुंचा सकता, स्वर्ग तक पहुँचाने में सदा कर्म्म ही सहायक होता है। एक विद्वान् का मत है कि वैराग्य से मनुष्य कभी स्वर्ग नहीं पहुँच सकता; उलटे वह स्वर्ग से और दूर जाता है। और यह बात है भी बहुत से अंशों में ठीक है। किसी मनुष्य के विरक्त हो जाने से संसार का अधिक से अधिक यही लाभ होगा कि संसार उसके द्वारा होनेवाले अपकारों से बच जायगा; पर उस मनुष्य के उपकार से जो संसार का उपकार करने के लिये बनाया गया है, संसार वंचित रहेगा। और यह भी प्रकारांतर से संसार की हानि ही है। ऐसी दशा में मनुष्य के लिये सर्वोत्तम मार्ग यही है कि वह संसार में सदाचारपूर्वक रहकर अपने कर्त्तव्यों का पालन करे। स्वर्गप्राप्ति का सबसे सीधा रास्ता यही है।

ईश्वर ने हमें अकर्म्मण्य होकर पृथ्वी का भार बने रहने के लिये जीवन नहीं दिया है। हमें जीवन मिला है काम करने के लिये। प्रत्येक मनुष्य का कुछ न कुछ विशिष्ट कार्य्य हुआ करता है। जो मनुष्य वह कार्य्य नही करता, वह स्वयं भी कष्ट उठाता है और साथ ही उसके कारण दूसरों को भी कष्ट होता है। उसकी अकर्म्मण्यता दूसरों पर भी अपना प्रभाव डालती और बहुत ही बुरा उदाहरण उपस्थित करती है। निरर्थक जीवन केवल असामयिक मरण ही है।

आजकल के युवक बातें तो बहुत करते हैं और बाँधनू भी बड़े बड़े बाँधा करते हैं, पर वे कार्य्यक्षेत्र में कभी नहीं उतरते। वे पढ़ लिखकर चपल और चतुर तो बहुत हो जाते हैं और दूसरों के कामों की आलोचनाएँ भी खूब किया करते हैं, पर स्वयं उनके लिये कोई काम नही होता। उनका न तो कोई सिद्धान्त होता है और न कोई निश्चित विचार ही। उनके हृदय में न तो किसी के प्रति श्रद्धा होती है और न किसी के प्रति विश्वास। न उन्हें धर्म्म की परवा होती है और न नीति की। सभ्यता और फैशन की उन्हें ऐसी धुन सवार होती है कि वे अपने सामने किसी को कुछ समझते ही नहीं। भला ऐसे जीवन से बढ़कर निन्दनीय और शोचनीय और कौन सा जीवन हो सकता है?

केवल पुस्तकीय ज्ञान मनुष्य के लिये कभी उपयोगी नहीं हो सकता। साहित्य क्षेत्र से कर्त्तव्य क्षेत्र सदा बहुत दूर हुआ

करता है। पढ़ने लिखने से केवल बुद्धि तीव्र होती है, मनुष्यत्व नहीं आता। मनुष्यत्व के लिये अनेक गुणों की आवश्यकता होती है जो केवल पुस्तकें पढ़ने से ही नहीं आ सकते। उनके लिये समाज में मिल जुलकर और नम्रतापूर्वक रहने की आवश्यकता होती है। लेखक एक ऐसे सज्जन को जानता है जिन्हें सारे वेद, शास्त्र, श्रुति, स्मृति, दर्शन, पुराण आदि सब कण्ठाग्र हैं और जो अनेक भाषाएं, बहुत से धर्मों के सिद्धान्त और दुनियाँ भर की बहुत सी बातें जानते हैं, पर जिन्हें शराफत तो दूर रही, आदमीयत भी छू नहीं गई है। कारण यही है कि उन्होंने कोरे ग्रन्थ पढ़ रक्खे हैं और समाज में मिल जुलकर रहना कभी सीखा ही नहीं। ऐसे लोगों को यह स्मरण रखना चाहिए कि दुनिया भर के सारे ग्रन्थों से बढ़कर ग्रन्थ मानव-जीवन है; उसी का अध्ययन करना शेष सब प्रकार के ग्रन्थों के अध्ययन से बहुत कठिन है।

आजकल जिधर देखो उधर शिक्षा-प्रचार पर बड़ा ज़ोर दिया जाता है। लड़कों को भी पढ़ाओ और लड़कियों को भी पढ़ाओ; मर्दों को भी शिक्षा दो और औरतों को भी शिक्षा दो; नौकरों को भी शिक्षित बनाओ और मजदूरों को भी शिक्षित बनाओ। अशिक्षित मनुष्य बड़ा ही अभागा और तुच्छ समझा जाता है। पर उचित और उपयुक्त प्रकार की शिक्षा देने की ओर लोगों का बहुत ही कम ध्यान है। लेकिन ज़रा आजकल के शिक्षित और सभ्य बाबुओं तथा मिस्टरों का अपने यहाँ के

अशिक्षित और असभ्य बड़े-बूढ़ों से तो मुकाबला कीजिए। अच्छी तरह देखिए कि नैतिक गुण और योग्यता उनमें से किनमें अधिक है। अशिक्षित बड़े बूढ़े आपको सीधे, सच्चे, सदाचारी और परिश्रमी मिलेंगे और शिक्षित तथा सभ्य समाज प्रायः आचारहीन, आलसी, अकर्म्मण्य और कोरे फिट बाबुओं से भरा हुआ मिलेगा। उस समय आप ही कोरी शिक्षा का महत्व और मूल्य मालूम हो जायगा। स्त्रियों पर भी आजकल की शिक्षा का ऐसा ही प्रभाव पड़ता है। वे स्वेच्छा-चारिणी हो जाती हैं और स्वतंत्रतापूर्वक जीवन निर्वाह करना चाहती हैं। सभ्य देशों में वे वोट देने तक का अधिकार माँगती हैं। अपने गार्हस्थ जीवन और कर्त्तव्य का उन्हें कोई ध्यान हो नहीं रह जाता। वे समझती हैं कि पुरुष हमारे अधिकारों को पद-दलित करते हैं; पर वे यह समझने का कष्ट नहीं उठातीं कि केवल पुरुषों की ही नहीं, बल्कि उनके स्वभाव और गुणों की सृष्टि भी वे स्वयं ही करती हैं। ये सारे दोष उसी शिक्षा के हैं जो लोगों की बुद्धि तो बढ़ा देती है, पर उन्हें उनका कर्त्तव्य नहीं बतलाती।

सन् १८७० में फ्रान्स और प्रशिया (जर्म्मनी) में जो युद्ध हुआ था, उससे कुछ समय पहले फ्रान्स की ओर से बैरन स्टोफेल इस बात की जाँच करने के लिये जर्म्मनी भेजे गए कि नैतिक दृष्टि से वहाँ के सैनिक क्यों फ्रान्स के सैनिकों की अपेक्षा अधिक उत्तम हैं। बहुत कुछ अनुसंधान करके

उसके कारणों की जो रिपोर्ट उन्होंने लिखी थी, उसका निम्नलिखित अंश बहुत ही विचारणीय है। उन्होंने लिखा था,—"सेना की नियम-पालन और आज्ञाकारिता आदि बातें बहुत करके समाज और गृहस्थों के नियम-पालन पर ही अवलम्बित हैं। प्रशिया में युवकों को आज्ञापालन करने, बड़ों का आदर करने और सबसे बढ़कर अपना कर्त्तव्य करने की शिक्षा दी जाती है। पर जब ये सब बातें फ्रान्स की गृहस्थियों में ही नहीं हैं, तब फ्रान्स की सेना में कहाँ से आ सकती हैं? यहाँ के शिक्षालयों आदि में भी आज्ञाकारिता, कर्त्तव्य-पालन और ईश्वर-निष्ठा आदि की कोई शिक्षा नहीं दी जाती। इसके परिणाम स्वरूप हमारी सेना में प्रतिवर्ष ऐसे युवक सैनिक भरती होते हैं जिनमें धार्मिक या नैतिक भाव नाम को भी नहीं होते और जिन्हें जन्म से ही किसी की आज्ञा न मानने, सब विषयों पर वाद-विवाद करने और किसी का आदर न करने की शिक्षा दी जाती है। तो भी बहुत से लोग तुरन्त ही उन सैनिकों का सुधार कर डालना चाहते हैं। पर वे लोग यह नहीं जानते कि सेना का नियम-पालन और आज्ञाकारिता केवल गृहस्थी के नियम-पालन, कर्त्तव्य-ज्ञान और बड़ों की आज्ञाकारिता पर ही निर्भर है। वास्तविक नियम-पालन यही है। इसके अतिरिक्त जबरदस्ती बनाया हुआ और कृत्रिम नियम-पालन विकट प्रसंग पर कभी ठहर नहीं सकेगा।"

आजकल बहुत से युवक अपने पूर्वजों के धार्मिक विश्वासों की हँसी उड़ाते और उनपर तर्क वितर्क करते हैं। पर वे यह नहीं जानते कि उन्हीं विचारों और सिद्धान्तों के कारण सर्वसाधारण में परोपकार, दया, चरित्र की शुद्धि आदि अनेक उत्तमोत्तम बातें दिखलाई पड़ती हैं। दुनिया को सराय समझना और ईश्वर पर विश्वास रखना केवल यही दो बातें ऐसी हैं जो यदि एक बार मनुष्य के मन में बैठ जायँ, तो उसका सारा जीवन-क्रम परिवर्त्तित हो सकता है। भले या बुरे मार्ग को ग्रहण करना हमारी इच्छा और विवेक पर ही निर्भर है। कर्त्तव्यों के पालन में पड़नेवाली अनेक कठिनाइयों को ईश्वरेच्छा समझकर सहना चाहिए। शुभ कार्य्यों से स्वय हममें बल आता है और दूसरों को शुभ कार्य्य करने की उत्तेजना मिलती है। प्रत्येक शुभ कर्म्म करनेवाले के कर्म्म उसके लिये निधि का काम देते हैं। इसलिये उचित है कि हम लोग अपने मनको दृढ़, आत्मा को शुद्ध और हृदय को भविष्य के लिये तैयार करें। संसार में सारा प्रयत्न और सारी दौड़-धूप जीवन के लिये ही है।

तीसरा प्रकरण

ईमानदारी और सच्चाई

ईमानदारी और सच्चाई का बहुत अच्छा जोड़ है। ईमानदारी ही सच्चाई है और सच्चाई ही ईमानदारी है। चाहे केवल सच्चाई से ही मनुष्य बहुत बड़ा और महात्मा न बन सकता हो, तो भी शुद्धाचरण का वह एक प्रधान अंग है। सच्चे मनुष्य को जो अपने यहाँ नौकर रखता है, वह निश्चित रहता है; और जो लोग सच्चे मनुष्य के यहाँ नौकरी करते हैं वे बेखटके रहते हैं—अपने मालिक पर उनका पूरा पूरा विश्वास होता है। सच्चाई, सच पूछिए तो, सिद्धान्त, शुद्धाचार और स्वतंत्रता का सार-भाग है। प्रत्येक मनुष्य की सब से पहली आवश्यकता सच्चाई ही है। प्राचीन काल की अपेक्षा आजकल पूर्ण सत्यता की और भी अधिक आवश्यकता है।

झूठ बोलना चाहे आजकल लोगों के लिये बहुत ही साधारण सी बात हो गई हो, तथापि स्वयं झूठ बोलनेवाला भी उसे बुरा ही समझता है। झूठ बोलते समय भी वह प्रायः यही जतलाना चाहता है कि मैं सत्य बोल रहा हूँ; क्योंकि वह जानता है कि सत्य का ही सब जगह आदर होता है और झूठ को सब लोग बुरा समझते हैं। झूठ

बोलना केवल बेईमानी ही नहीं है, बल्कि कायरतापूर्ण भी है। एक महात्मा का उपदेश है—"सदा सच्चे रहने का प्रयत्न करो; कभी कहीं झूठ बोलने की आवश्यकता ही नहीं हो सकती। सब से बुरे झूठे वही होते हैं जिनकी बातों में झूठ और सच दोनों का मेल होता है। वे अपनी रक्षा के लिये ऐसा झूठ बोलना चाहते हैं जिसमें सत्य का भी कुछ अंश रहता है। उनकी बातें ऐसी होती हैं जो दोनों ओर लग सकती हैं। ऐसे लोग झूठ बोलने के अतिरिक्त दूसरा पाप यह करते हैं कि वे दूसरों को बड़ी बुरी तरह धोखा देते हैं।"

दुनिया में दोरंगापन भी वैसा ही बुरा है, जैसा झूठ बोलना। नीच आदमी अपने कार-बार में सदा झूठा रहता है। वह सदा दोरंगी बातें करता है; और उसके काम भी दोरंगे हुआ करते हैं। वह अपने विश्वास और विवेक के विरुद्ध कार्य्य करता है। पर सच्चे मनुष्य के मन में जो बातें होती हैं, वही उसके मुँह से भी निकलती हैं। वह जो कुछ कहता या जतलाता है, वही करता है और सदा अपने वचन पर दृढ़ रहता है।

बहुत से पढ़े-लिखे और समझदार लोग जो सच्चाई का बहुत दम भरते हैं, प्रायः कुछ विशिष्ट अवसरों पर झूठ बोलने को अनुचित या पाप नहीं समझते। अपने रोजगार या इसी तरह की और दूसरी बातों में झूठ बोलना उनकी समझ में निंदनीय नहीं है। इस प्रकार के झूठ का प्रचार

समाज में बहुत बढ़ गया है। यदि कोई मिलने आवे, अथवा कोई चीज मांगने आवे तो लड़के या नौकर से यह कहला देना बहुत ही साधारण बात है कि—"मकान पर नहीं हैं।" यहां तक कि सांसारिक व्यवहारों में झूट बोलना बहुत ही आवश्यक समझा जाता है और उसकी गणना दोषों में नहीं की जाती। किसी झूट को लोग किसी प्रकार की हानि न करनेवाला, किसी को बहुत ही साधारण और किसी को छोटा समझते हैं और कोई झूट अनजान में ही मुँह से निकल जाता है। छोटे छोटे झूट तो प्रायः हर दम बोले जाते हैं। पर शुद्ध-हृदय मनुष्य को उनसे कुछ न कुछ कष्ट और दुःख अवश्य होता है। रस्किन ने झूट की उपमा धूएँ से जमी हुई कालिख से दी है और कहा है कि अपने हृदय को उस कालिख से सदा बिलकुल स्वच्छ रखना चाहिए।

राजनीतिज्ञ और शासन विभाग के बड़े बड़े अधिकारी अपने देश के लाभ के लिये विदेशियों से झूठ बोलना पाप नहीं समझते। पर यहां हम एक ऐसा उदाहरण देते हैं जिससे प्रमाणित होगा कि मनुष्य को अपने वचन का ध्यान, अपने प्राणों से भी अधिक रखना चाहिए। एक बार रोम और कारथेजवालों में युद्ध हुआ था। उसमें कारथेजवालों ने कुछ रोमनों को पकड़ लिया था। कारथेजवालों ने रेगुलस को सन्धि की बातचीत करने के लिये इस शर्त पर रोम भेजा था कि सन्धि न हो तो रेगुलस फिर लौटकर कारथेज-

वालों की कैद में आ जाय। उसने शपथ खाकर वचन दिया कि यदि सन्धि न हुई तो मैं अवश्य लौट आऊँगा। लेकिन रोम पहुँचकर अपने साथियों को उसने यही सम्मति दी कि तुम लोग बराबर युद्ध करते रहो और कैदियों का बदला मत करो। सेनेट के मेम्बर मंत्रियों और यहाँ तक कि प्रधान धर्म्माधिकारी ने भी उससे कहा कि अब तुम लौटकर कारथेज जाने के लिये बाध्य नही हो, क्योंकि उन लोगों ने बलपूर्वक तुमसे शपथ ली है। इसपर रेगुलस ने बिगड़कर कहा--"क्या आप लोग मुझे बेइज्जत करना चाहते हैं? मैं जानता हूँ कि वहाँ लोग मुझे कष्ट दे देकर मार डालेंगे। पर यदि मैं अपने वचन से फिर जाऊँ तो यह कितनी बड़ी लज्जा और पाप की बात होगी? मैं इस समय कारथेजवालों के बंधन में हूँ तो इससे क्या? आत्मा तो मुझमें रोमन ही है। मैंने लौटने की शपथ खाई है और लौट जाना मेरा कर्त्तव्य है। बाकी बातों की चिन्ता देवता करेंगे।" रेगुलस लौटकर कारथेज गया; वहाँ कारथेजवालों ने अनेक कष्ट पहुँचाकर उसे मार डाला!

प्लेटो ने कहा है—"जो लोग अच्छी तरह अपना जीवन-निर्वाह करना चाहते है, उन्हे सत्यता ग्रहण करनी चाहिए। उनके कष्टों और दुःखों का तभी अन्त होगा जब वे सत्यता ग्रहण करेंगे; इससे पहले नही।"

सच्चाई और ईमानदारी का पता कई तरह से लगता है।

यह बातें ऐसे लोगों में पाई जाती हैं जिनका कारबार, लेन-देन बहुत साफ होता है और जो अपने लाभ के लिये कभी दूसरों को धोखा नहीं देते । ऐसे लोग ठीक नापेंगे, पूरा तौलेंगे, असली चीज में से नमूना देंगे, ठीक ठीक काम करेंगे और सदा अपनी बात के पक्के रहेंगे ।

विलायत में एक भले आदमी थे जिन्हें सदा इस बात की शिकायत बनी रहती थी कि भोजन के साथ उन्हें जो शराब मिलती थी, वह पूरी नहीं, कम होती थी । लाचार होकर उन्होंने अपने भोजन और शराब देनेवाले से पूछा—"आप एक महीने में कितने पीपे शराब के बेचते हैं ?" उसने कहा "दस" । उन्होंने फिर पूछा—"तो क्या आप चाहते हैं कि आपके ग्यारह पीपे बिका करें ?" उसने कहा—"जी हाँ, क्यों नहीं ।" उन्होंने कहा—"अच्छा तो मैं आपको एक उपाय बतलाता हूँ । आप पूरा नापा कीजिए ।"

आजकल चीजें खाली नाप या तोल में ही कम नहीं मिलतीं बल्कि उनमें बहुत कुछ मिलावट भी होती है । हमें कोई चीज असली या सस्ती नहीं मिलती । लेकिन दूकानदार यही चाहते हैं कि चीजें बिकें और लाभ से बिकें । जब दूकानदार की चोरी पकड़ी जाती है, तब गाहक उसे छोड़कर दूसरे दूकानदार के यहाँ चला जाता है और उसके यहाँ दूसरा गाहक आ जाता है । यही फेर सदा लगा रहता है । गाहक जहाँ जाता है, वहीं धोखा खाता है । सारा बाजार नकली और

बनावटी चीजों से भरा होता है। घी में मूँगफली का तेल ही नहीं बल्कि साँप की चरबी तक मिलाई जाती है। केसर के नाम पर गेंदे के फूल का केसर मिलता है। ऊनी कपड़ों में बहुत कुछ अंश सूत का भी पाया जाता है। बहुत से कपड़े जिनकी चमक-दमक रेशमी से भी बढ़कर होती है, वास्तव में कई तरह के पेड़ों की छालों से बने होते हैं। विलायती चीनी में गुड़ मिलाकर लोग उसे देशी चीनी के नाम से बेचते हैं। तरह तरह की हड्डियाँ हाथीदाँत के नाम से बिकती हैं। तागे की रील पर छपा होता है "२५० गज" पर उसमें तागा निकलता है १७५ गज ही। दियासलाई की डिबिया में नीचे की ओर सलाइयों की कैंची सी लगी रहती है जिसके कारण उसमें नियमित से आधी ही सलाइयाँ आती हैं। जूते के तलों में कागज और मिट्टी तक भरी होती है। कहाँ तक कहें, देशी और विदेशी सभी चीजों में यह ठग-विद्या होती है। ऊपर से देखने में तो चीज बहुत भड़कीली, अच्छी और मजबूत जान पड़ती है, पर जब गाहक उसे काम में लाता है, तब अपना करम ठोंकता और दूकानदार के नाम को रोता है। सारे संसार की बनी हुई चीजों और बाजारों की प्रायः यही दशा है।

नौकर, मजदूर और कारीगर कभी ठीक तरह से काम नहीं करते। वे जैसे तैसे काम को चलता करके अपने टके सीधे करते हैं। किसी इंजीनियर या ठीकेदार के द्वारा मकान

बनवाइए। दो ही चार बरस बाद पलस्तर गिरने लगेगा, छत चूने लगेगी, दीवार में दरार पड़ जायगी, आँगन में गड्ढे हो जायँगे, बरामदा आगे की ओर झुक पड़ेगा, कोई कोना जमीन में धँसने लगेगा और इसी तरह की न जाने कितनी बातें होने लगेंगी। रंगसाज का लगाया हुआ रंग उड़ जायगा, बढ़ई के लगाए हुए दरवाजे झूलने लगेंगे और खिड़कियाँ झूठी पड़ जायँगी। ये सब बातें इसी लिये होंगी कि काम करनेवालों ने उसमें पूरा परिश्रम नहीं किया, उस पर यथेष्ट ध्यान नहीं दिया। उन्होंने जैसे तैसे काम चलता किया; अपनी योग्यता से पूरा पूरा काम नहीं लिया। पर ऐसा करना बड़ी ही बेईमानी और बेइज्जती की बात है। इससे केवल उस मनुष्य का ही नहीं बल्कि उसकी जाति का भी विश्वास उठ जाता है। यदि उसकी लापरवाही के कारण दुर्भाग्यवश कभी कोई दुर्घटना हो जाय—जैसा कि प्रायः हुआ ही करता है—तो उसका पाप उसे अलग लगता है।

सब प्रकार का खराब काम करना झुठाई के अन्तर्गत ही है। यह सरासर बेईमानी है। आप ठीक और अच्छे काम के लिये रुपया खरचते हैं, पर वह काम बुरी तरह और बेईमानी से किया जाता है। लोग चाहते हैं कि किसी तरह चटपट काम पूरा हो और हमें रुपया मिले, आगे चलकर उस काम से चाहे अनर्थ ही क्यों न हो जाय। यदि उस जाति या पेशे की प्रतिष्ठा भी नष्ट हो जाय तो उन्हें उसकी

परवा नहीं। इसी लिये साक्रेटीस ने कहा है कि मनुष्य जो काम करे, उसे खूब जी लगाकर करे और यथासाध्य उसे पूर्णता तक पहुँचाकर छोड़े। प्रत्येक कारीगर का यह कर्त्तव्य है कि वह अपनी शक्ति भर अपने काम में कोई त्रुटि न रहने दे, उसे सर्वांगसुंदर और सर्वाङ्ग-पूर्ण करे। ऐसे कारीगर से जो मनुष्य एक बार काम लेगा, वह सदा प्रसन्न और संतुष्ट रहेगा, उसकी प्रशंसा करेगा और बराबर उसी से काम लिया करेगा।

इस अवसर पर थामस ब्रेसी नामक एक फ्रांसीसी ठीकेदार की सच्चाई और ईमानदारी का कुछ वर्णन कर देना उपयुक्त जान पड़ता है। उसने एक बार एक पुल बनाया था जो पहली ही बरसात में बैठ गया और जिससे तीस हजार पाउण्ड की हानि हुई। जो मसाला उस पुल में लगाया जाता था, उसे वह पहले कई बार खराब कह चुका था और उसे लगाने का विरोध कर चुका था; और इसी लिये न तो वह नैतिक दृष्टि से और न कानून से किसी तरह बाध्य था। वकीलों ने भी उसे अच्छी तरह समझा दिया था कि अब तुम पर किसी तरह का उत्तरदायित्व नहीं है। पर ब्रेसी की सम्मति कुछ और ही थी। उसने कहा कि मैंने ऐसी सड़क बनाने का ठीका लिया था जो बराबर काम दे; और कोई कानून मुझे अपने वचन पर दृढ़ रहने से नहीं रोक सकता। पुल और सड़क उसने फिर से अपने खर्च से बनवाई। उसका यह कार्य्य

आजकल के ठीकेदारों के लिये सर्वोत्तम और सर्वोच्च आदर्श है।

पाठक जानते हैं कि बड़े बड़े कारखानों, खानों और रेलों आदि में काम करनेवाले मज़दूर तथा अन्यान्य विभागों के कर्म्मचारी कभी कभी हड़ताल कर दिया करते हैं। हड़ताल का यह रोग इस देश में तो उतना अधिक नहीं है, पर युरोप, अमेरिका आदि देशों में बहुत अधिक है। वहाँ के मज़दूर जहाँ-तक हो सकता है, कम काम करना और अधिक मज़दूरी लेना चाहते हैं। पर वास्तव में केवल नैतिक दृष्टि से ही नहीं बल्कि देशहित की दृष्टि से भी यह बात बहुत ही निंदनीय और हानिकारक है। इससे स्वयं काम करनेवालों की भारी हानि होती है। हड़ताल के दिनों में वे अपनी पूँजी खा जाते हैं। उधर मालिकों की आर्थिक दशा पर उसका जो दुष्परिणाम होता है, वह अलग है। पाश्चात्य देशों की देखादेखी इस देश में भी धीरे धीरे यह रोग फैलने लगा है। इस देशवालों को यथासाध्य इससे बचना चाहिए।

आजकल पाश्चात्य देशों में प्रायः धन की ही पूजा होती है। लोग धन को ही सर्वस्व, यहाँ तक कि ईश्वर समझते हैं। युरोप की अपेक्षा अमेरिकावाले धन-भगवान् के और भी अधिक उपासक हैं। धन-प्राप्ति के विचार के सामने उनके सारे दूसरे विचार हवा हो जाते हैं। व्यवसाय में लोगों को धोखा देना और नकली तथा मिलावटी

चीजें बेचना उनके लिये बहुत ही साधारण बात है। वहाँ के लोग कभी कभी स्वयं यह बात स्वीकार करते है कि हम लोग दूसरों को बुरी तरह धोखा देते और लूटते हैं। वहाँ के सत्यनिष्ठ महानुभावों को इस बात का बहुत ही दुःख और पश्चात्ताप भी हो रहा है कि हम लोग अपनी जातीय प्रतिष्ठा और गौरव नष्ट कर रहे हैं। दूसरों को धोखा देकर उनका धन छीन लेने में अमेरिकन जितने सिद्ध-हस्त हैं, उतने सिद्धहस्त कदाचित् ही और किसी देश के लोग हो। हमारे देश से जो युवक शिक्षा प्राप्त करने के लिये अमेरिका जाते हैं, उनमें से अनेक प्रायः यही विद्या सीखकर आते हैं। यहाँ के अनेक साप्ताहिक और मासिक पत्रों में अमेरिका से भारतीय युवकों ने जो लेख छपवाए हैं, उनमें से कुछ में अमेरिकावालों की धूर्त्तता और ठग-विद्या का भी थोड़ा बहुत वर्णन किया गया है। वे लोग अपनी रद्दी से रद्दी चीज की बहुत अधिक प्रशंसा करके उसे किसी गाहक के मत्थे मढ़ देने में ही बड़ा भारी पुरुषार्थ समझते हैं। अमेरिका से शिक्षा पाकर जो युवक इस देशमें आते हैं, वे भी प्रायः वैसे ही धूर्त्त होते हैं। अनेक प्रकार से लोगों को धोखा देकर उनका धन छीनना ही उनका प्रधान उद्देश रह जाता है।

शिक्षा पाने के उपरांत मनुष्य यदि अपनी विद्या और बुद्धि का सदुपयोग न करे, तो बहुधा उससे तरह तरह के अनर्थ ही होने लगते हैं। इसके अतिरिक्त आधुनिक शिक्षा

प्रणाली में भी एक विशेष दोष है। आजकल के शिक्षित युवक एक तो स्वयं ही कोई कला सीखकर शारीरिक परिश्रम करने के योग्य नहीं बनते; दूसरे उन्हें शारीरिक परिश्रम करने में बहुत कुछ संकोच और लज्जा भी होती है। पर प्रत्येक शिक्षित मनुष्य को कोई न कोई कला भी अवश्य सीखनी चाहिए और शारीरिक परिश्रम करने का अभ्यास डालना चाहिए जिसमें कोई कठिन समय आ पड़ने पर वह सहज में जीविका उपार्जन कर सके। संसार-चक्र सदा चलता रहता है। बड़े बड़े धनवान कुछ ही दिनों में दरिद्र हो जाते हैं और दरिद्रों के हाथ में भारी सम्पत्ति आ जाती है। ऐसी दशा में प्रत्येक व्यक्ति का यह धर्म है कि वह कोई ऐसा हुनर सीखे जो आड़े समय में उसके काम आवे। जो शिक्षा मनुष्य को सदा के लिये जीविका उपार्जन करने के योग्य न बना दे, वह शिक्षा बहुत ही निकम्मी है।

लोग व्यापार की कठिनाइयों की तो बहुत शिकायत करते हैं, पर अपनी त्रुटियों की ओर उनका ध्यान कभी नहीं जाता। बहुत शीघ्र और अधिक धन उपार्जन करने के लिये संसार में नित्य तरह तरह की धूर्त्तताएं की जाती हैं। धैर्य्यपूर्वक परिश्रम करते हुए उत्तम जीवन व्यतीत न करके लोग झटपट धनवान बन जाना चाहते हैं। आजकल के लोगों को व्यापारी नहीं बल्कि जुआरी समझना चाहिए। धन-प्राप्ति के मार्ग में वे लोग इतनी तेजी से आगे बढ़ते हैं कि जो लोग उस मार्ग में

गिर पड़ते हैं, उनकी ओर देखने और उनकी सुध लेने की भी उन्हें फुरसत नही रह जाती। वे धन को ही अपना सर्वस्व समझते और उसी की प्राप्ति के लिए अपनी सारी शक्ति से आगे बढते हैं। आजकल व्यापारिक क्षेत्र तथा समाज में जो अनेक दोष और कष्ट दिखाई देते हैं, उनका मुख्य कारण यही धन-लालसा है।

एक बार एक पिता ने अपने पुत्र को उपदेश दिया था—"बेटा, अब तुम बड़े हुए। तुम्हें दुनिया में लोगों से बरतना पड़ेगा। इसलिये मैं तुम्हें एक बात बतला देता हूँ। यदि अवसर पड़े तो तुम दूसरों को धोखा दे देना, पर स्वयं कभी धोखा न खाना।" एक दूसरे व्यक्ति ने कहा था—"धन पैदा करो,—यदि हो सके तो ईमानदारी से पैदा करो और नहीं तो जैसे हो, वैसे पैदा करो।" अँगरेजी की एक कहावत का अभिप्राय है—"धन उपार्जन करो, सारा संसार तुम्हें भला आदमी कहेगा।" इन्हीं सब बातों से मालूम हो जायगा कि धन के संबंध में आजकल लोगों की कैसी धारणा है। आजकल की व्यापार-नीति का प्रायः मुख्य सिद्धांत कुछ ऐसा ही हुआ करता है। चाहे जैसे हो, धन मिलना चाहिए। और इसी प्रकार लोगों को धन मिलता भी है। जो मनुष्य ईमानदारी और सच्चाई से अपना कारबार करता है, उसकी आर्थिक उन्नति प्रायः धीरे धीरे हुआ करती है; पर हाँ, उसे बदनामी या संकट आदि का भय नहीं रह जाता। उसे लाभ

अवश्य कम होता है, पर यह लाभ उचित रीति से होता है। जो मनुष्य बहुत जल्दी धनवान् हो जाता अथवा होना चाहता है, वह कभी निर्दोष नहीं रह सकता।

बड़े बड़े नगरों में प्रायः ऐसे धनी व्यापारी हुआ करते हैं जिनके हाथ में सारा बाजार रहता है। उनका कार-बार, लेन-देन और लाभ बहुत होती है; समाज में सब जगह उनका आदर होता है, उनकी कोठियाँ और रहने के घर खूब सजे हुए होते हैं; उनके यहाँ गाड़ी घोड़े बँधे रहते हैं और उन्हें किसी चीज़ की कमी नहीं होती। उनकी देखादेखी बहुत से युवक भी उन्हीं के मार्ग का अनुसरण करने लगते हैं। पहले सट्टे में उन्हें कुछ लाभ होता है, दूसरे सट्टे में उन्हें कुछ और,अधिक लाभ होता है और तब वे धन-प्राप्ति के लिये मानों हवा के घोड़े पर सवार हो जाते हैं। फल यह होता है कि आगे चलकर उन्हें बेईमान और धूर्त बनना पड़ता है। वे लोगों को अपनी शान-शौकत दिखलाने के लिये गाड़ी-घोड़ा और नौकर-चाकर रखते हैं, अपने मकान सजाते हैं, बहुत से लोगों को साथ लेकर बागों में सैर करने जाते हैं और इसी तरह के अनेक दूसरे काम करते हैं। उधर बाजार में वे माल भी खरीदते और बेचते हैं और बाजार-भाव से अधिक सूद देकर रुपए कर्ज लेते और हुंडियाँ लिखते हैं। प्राचीन काल में दुष्ट और अन्यायी लोग बल-प्रयोग करके दूसरों का धन हरण किया करते थे; और आजकल लोग साहूकार बनकर

दिवाले की सहायता से लोगों का धन छीनते हैं। पहले सब प्रयत्न खुले आम होता था, पर आजकल छिपाकर और बड़े अच्छे ढंग से किया जाता है। पर तो भी उनका छिपाना कुछ काम नहीं करता और अंत मे भंडा फूट ही जाता है। अंत मे उनका काम ढीला पड़ जाता है, हुंडीवालों का रुपया नहीं चुकाया जाता, घर की चीज़े नीलाम होने लगती है और शहर के लोग तमाशा देखते और दीवालिए की बातों पर हँसते है।

दीवालियों में बहुत से लोग ऐसे भी हुआ करते हैं जो बाजार से रुपए लेकर दबा बैठते हैं और झूठा बही-खाता बनाकर दीवाला निकाल देते है। कानून की पकड़ मे भी वे लोग सहज में नहीं आ सकते। एक बार एक दीवालिए ने प्रायः साठ हजार रुपए का दीवाला मारा। उसमे बाजार के साहूकारों के रुपए कम और दीन ब्राह्मणों, अनाथों और विधवाओं के रुपए ही अधिक थे। जिन महाजनों ने उसे दीवाला मारने में कुछ सहायता दी थी, उनके रुपए दीवाला निकलने से साल डेढ़ साल पहले ही चुका दिए गए थे। और रुपए डूबे बेचारे बुड्ढों, अनाथों और विधवाओं के! एक और दीवाले का हाल भी सुनने योग्य है। दीवालिए दो भाई थे जिनका नाम मात्र का कार-बार और लेन-देन अलग अलग होता था। वे लोग स्वयं अच्छे धनी थे, पर ऐयाशी और जूए आदि में अपना अधिकांश धन नष्ट कर चुके

थे। दुर्व्यसन लोगों को सहज में नहीं छोड़ते, इसलिये जब उनका निज का धन समाप्ति पर आया, तब उन्होंने नाम मात्र को गल्ले और कपड़े का थोड़ा बहुत कार-बार आरंभ किया और उस कार-बार के नाम पर—और अपनी थोड़ी बहुत स्थावर सम्पत्ति के बल पर भी—बाजार से रुपया लेना आरम्भ किया। इस प्रकार दोनों भाइयों ने धीरे धीरे बाजार से डेढ़ लाख रुपए ले लिए और सब स्वाहा करके अंत में दिवाला निकाल दिया। पहले दीवालिए के कर्जदारों को ४) सैंकड़े और दूसरे दीवालियों के कर्जदारों को ३) सैंकड़े के हिसाब से रुपया चुकता मिला! थोड़ी सी खोज करने पर आपको अनेक ऐसे दीवालिए मिल जायँगे जिन्होंने अनेक धर्मशालाएं और गोशालाएं बनाने के लिये बड़ी बड़ी रकमें चंदे में दी होंगी, विवाह आदि के अवसरों पर नगर-ज्यानार की होगी, जाड़े में गरीबों को कंबल बाँटे होंगे और अकाल-पीड़ितों के लिये अन्न-सत्र खोल दिए होंगे। लोगों में उस समय खूब वाहवाही होती है; पर कोई यह नहीं सोचता कि इस काम में लगाया जानेवाला धन आगे चल-कर कितने दीनों और अनाथों के गले पर छुरी फेरेगा! ऐसे लोग पापयुक्त उपायों से धन-संग्रह करके स्वर्ग पहुँचना चाहते हैं!! और सबसे बढ़कर विलक्षणता यह है कि उनकी दशा देखकर भी कोई शिक्षा ग्रहण नहीं करता!!!

अभी हाल में भारत में प्रायः दो दर्जन बंकों के दिवाले

निकले थे। उनके कारण उनके हिस्सेदारों की भी दुर्दशा हुई थी और उनमें रुपए जमा करनेवालों की भी। सारे देश में पुकार मच गई और अनेक विधवाओं, अनाथों और सार्वजनिक संस्थाओं के रुपए उनमें डूब गए थे। उन बंकों के संचालकों ने आरंभ से जो जो अनर्थ किए थे, उनसे प्रायः सभी लोग परिचित हो चुके है। उनके कारण कई अच्छे और मातवर बंकों को भी थोड़ी बहुत हानि सहनी पड़ी। आजकल बंकों के मनेजर प्रायः बंक के रुपए से अपना निज का कार-बार भी कर बैठते है। यदि उससें लाभ हो तो मनेजर साहब का घर भरे और यदि घाटा हो तो हिस्सेदारों और रुपया जमा करनेवालों के सिर जाय। कैसा अच्छा काम है! एक विद्वान् कहता है कि कहीं से एक रुपया चुराना बड़ा कठिन और साहस का काम है; पर दस पाँच लाख रुपए दबा बैठने का साहस बडे लोग जल्दी कर बैठते हैं। आजकल पढ़ लिखकर लोग बड़े चतुर हो जाते हैं और अनेक प्रकार के छल-कपट करना उनके लिये बहुत सहज हो जाता है। यदि उनकी वह चातुरी लह गई, तब तो ठीक ही है; नहीं तो बरबाद होते हैं पराए हजारों घर। स्वयं उनका कुछ भी नहीं बिगड़ता।

जिन लोगों के पास कुछ धन होता है, वे जब और अधिक धनवान् होना चाहते है, तब व्यापार और सट्टे आदि में उनका साहस बढ़ जाता है। यदि शुद्ध व्यापार में

लोग साहस करें तब तो चिन्ता की कोई बात ही नहीं है; पर कठिनता तो यह है कि आजकल का व्यापार प्रायः जूए या सट्टे से किसी बात में कम नहीं होता। जो साहस ले कर बैठते हैं, उसमें सबसे पहले धन की आवश्यकता होती है। और जब स्वयं उनके पास उतना धन नहीं होता तब वे बाजार से रुपए लेते हैं। पहली बार यदि उन्हें भारी घाटा सहना पड़ा तो दूसरी बार उसे पूरा करने के लिये वे और भारी सट्टा करते हैं; और इस प्रकार करते करते अंत में भारी दीवाले की नौबत पहुंचती है। विलायत में एक धनी महाजन था जिसने रेलों के हिस्से और सट्टे आदि में अपना बहुत सा धन गंवाया था। संयोग से वह एक बार पार्लिमेन्ट का मेंबर हो गया और समय पाकर वह खजाने का अफसर (Lord of the Treasury) भी बन गया। खजाने में एक अच्छा ताज था जिसपर उसकी बहुत दिनों तक दृष्टि रही; पर वह ताज उसे किसी प्रकार मिला नहीं। तब उसने हजारों पाउंडों की जाली हुंडियाँ आदि बनाईं और अनेक नकली दस्तावेज तैयार किए। पर इन सब बातों से भी उसकी पूरी न पड़ी। उसका निज का कारबार बिगड़ गया, कोई उसकी हुंडी लेने के लिये तैयार न हुआ अंत में विवश होकर उसने तेजाब पीकर आत्म-हत्या कर ली!

जिस समय उसकी मृत्यु का समाचार नगर में फैला, उस समय चारों ओर हाहाकार मच गया। सैकड़ों बुड्ढे

और विधवाएँ इधर उधर रोती कलपती फिरती थीं। उस दिवाले के कारण उनका सर्वस्व नष्ट हो चुका था और अब उन्हें एक पाई के मिलने की भी आशा नहीं थी। उस महाजन ने अपने एक चचेरे भाई को मरते समय जो पत्र लिखा था, वह अत्यंत शिक्षाप्रद है। उसके कुछ अंश का भावार्थ यह है,—"मैं धीरे धीरे अपराध पर अपराध करता करता कितना बदनाम हो गया! मेरे कारण हजारों आदमियों का सर्वस्व नष्ट हुआ, उनपर विपत्तियाँ आईं और उनकी अप्रतिष्ठा हुई। मेरे कारण जिन लोगों का सर्वनाश हुआ है, उनका स्मरण करके मुझे जो दुःख हो रहा है, उसका वर्णन नहीं हो सकता। मैं सब प्रकार के दंड सह सकता हूँ, पर उनके कष्ट नहीं देख सकता। इससे उत्तम यही है कि मैं अपने प्राणों का अंत कर दूँ। क्या अच्छा होता यदि मैंने अपना देश आयर्लैण्ड न छोड़ा होता अथवा व्यापार और सट्टे में ही हाथ न डाला होता। उस दशा में मैं पहले की ही तरह सच्चा और ईमानदार तो रहता। मेरी आँखों से आँसुओं पर आँसू निकलते हैं, पर अब क्या हो सकता है।"

धन केवल एक शक्ति है। उसका सदुपयोग भी हो सकता है और दुरुपयोग भी। पर बहुधा लोग उसकी प्राप्ति के लिये अनेक प्रकार के अनर्थ करते हुए देखे जाते हैं। धन की लालसा मनुष्य को अंधा बना देती है और उसे भले-बुरे का ज्ञान नहीं रह जाता। जब तरह तरह की बेईमानियाँ करके वह उसे प्राप्त

कर चुकता है, तब उसे जो घमंड और अहंकार होता है वह और भी अधिक अनर्थकारी होता है। इसके अतिरिक्त धन पास रहने के कारण मनुष्य जो दुष्कर्म्म करना और दुर्व्यसनों में लग जाता है, वह अलग। आदमी की नीयत को धन जितनी जल्दी बदल सकता है, उतनी जल्दी शायद ही कोई और चीज बदल सकती हो। मनुष्य की कौन कहे, कभी कभी उसके कारण बड़े बड़े राज्यों और जातियों की भी नीयत बिगड़ जाती है। अमेरिका में कई छोटे छोटे ऐसे राज्य हैं जो दूसरे देशों से ऋण लेकर बैठे हुए हैं और देने का नाम नहीं जानते। एक अमेरिकन, जिसने अपने सारे जीवन की गाढ़े पसीने की कमाई एक ऐसे ही प्रजासत्ताक राज्य को दी थी, कहता है कि अमेरिकावालों ने जिस प्रकार अन्य अनेक बातों में बहुत कुछ उन्नति की है, उसी प्रकार पापों में भी बहुत वृद्धि की है। वहाँ की सारी जाति मिलकर ऐसा नीच कर्म्म कर सकती है, जैसा परम स्वेच्छाचारी राजा भी नहीं कर सकता।

पर संसार में सभी तरह के लोग हुआ करते हैं। अमेरिका में ही इलीनास (Illinois) नामक एक प्रजासत्ताक राज्य है। अन्य राज्यों की देखादेखी उसने भी अपनी आन्तरिक उन्नति करने के लिये ऋण लिया था। यदि वहाँ के निवासी चाहते तो सहज में ही मुकर जाते और लोगों के रुपये दबा बैठते। और अन्त में कुछ लोगों का विचार ऐसा हुआ

भी, पर वह विचार एक ईमानदार आदमी के कारण रुक गया। उस धर्म्मात्मा का नाम एस० ए० डगलस था। जिस समय उसे यह बात मालूम हुई, उस समय वह एक होटल में बीमार होकर पड़ा हुआ था। वह चल फिर नहीं सकता था, इसलिये एक खटोली पर राज-सभा में पहुँचा और वहाँ उसने लेटे ही लेटे एक कागज लिखकर लोगों के आगे बढ़ाया और कहा कि यह प्रस्ताव पास होना चाहिए। उस कागज में लिखा था—"निश्चित हुआ कि इलीनोस चाहे एक पैसा भी न दे सके, तौ भी सदा ईमानदार रहेगा।"

प्रत्येक सभासद के मन में उसकी यह बात बैठ गई और वह प्रस्ताव सहर्ष पास किया गया। उस दिन से देश की दशा बदल गई। बाहरी धन और जन दोनों से वह देश भरने लगा और आज उसकी गणना अमेरिका के बड़े बड़े समृद्ध देशों में होती है। यह सब सच्चाई और ईमानदारी का ही फल है।

बात यह है कि आजकल लोग बहुत स्वार्थी हो गए हैं। हम लोग अपना और अपने सुख का बहुत अधिक ध्यान रखते हैं और दूसरों की तनिक भी परवा नहीं करते। सुख और भोग-विलास ही लोगों का प्रधान उद्देश रह गया है। ईमानदारी से कमाए हुए थोड़े धन से हम लोग संतुष्ट नहीं रह सकते। संतुष्ट कैसे रहे? वह थोड़ा धन हमारे अनुचित और निंद-नीय भोग-विलास के लिये जो यथेष्ट नहीं होता। हमारी आवश्यकताएँ बहुत अधिक होती हैं और उन्हीं की पूर्त्ति के

लिये हम दुष्कर्मों में प्रवृत्त होते हैं—बेईमानी करके दूसरों का धन लूटते हैं। एक महात्मा का मत है—"जिस मनुष्य की आवश्यकताएँ जितनी ही कम हों, उसे उतना ही ईश्वर के समीप समझो।" यह अमूल्य वाक्य सदा हृदय में अंकित रखने योग्य है। यदि हम अपनी निरर्थक आवश्यकताओं को कम कर देंगे तो हम बहुत से बुरे कामों—धोखेबाजी, बेईमानी आदि—से बच जायेंगे। सच्चाई और ईमानदारी से निर्धन रहकर अपना जीवन बिताना ही श्रेष्ठ है; बेईमानी करके अमीर बनना ईश्वर की इस सृष्टि—संसार को नरक बनाना है। दरिद्र से दरिद्र मनुष्य भी यदि ईमानदार और सच्चा हो तो उसके सामने सबके सिर झुकेंगे। एक दरिद्र, पर बहुत ही सच्चे और ईमानदार जर्मन खेतिहर की एक बात सोने के अक्षरों में लिखी जाने के योग्य है। सन् १७८० में एक बार कुछ जर्मन सेना कहीं चढ़ाई पर जा रही थी। रास्ते में चारे की आवश्यकता पड़ी। एक कप्तान ने अपने सैनिकों के साथ गाँव में जाकर एक मकान का किवाड़ खटखटाया। भीतर से सफेद दाढ़ीवाला एक बुड्ढा निकला। कप्तान ने उससे कहा—"मुझे किसी खेत में ले चलो, फौज के लिये चारा चाहिए।" बुड्ढे ने कहा—"चलिए।" बुड्ढा आगे हो लिया। कोई आध घंटे तक चलने के उपरांत एक खेत मिला। कप्तान ने कहा—"बस इससे हमारा काम हो जायगा।" बुड्ढे ने कहा—"आप थोड़ा और कष्ट करें, अभी सब ठीक

हुआ जाता है।" कुछ दूर चलकर बुड्ढे ने एक दूसरा खेत दिखलाया जहाँ से सैनिकों ने चारा काट लिया। चलते समय कप्तान ने पूछा—"भाई, तुम हम लोगों को इतनी दूर क्यों लाए? पहला खेत तो बुरा नहीं था।" बुड्ढे ने उत्तर दिया "आपका कहना बहुत ठीक है। पर वह खेत मेरा नहीं था।"

इसके विरुद्ध संसार में एक और तरह के आदमी होते हैं जिन्हें कुछ धन देकर अनेक प्रकार के दुष्कृत्यों और पापों में प्रवृत्त किया जा सकता है। संसार में ऐसे असंख्य नीच होंगे जो धन आदि का लालच पाकर अपने शरीर और आत्मा तक को बेचने के लिये तैयार हो जायँगे। आजकल सारे संसार में सार्वजनिक कार्य्यों के लिये म्यूनिसिपैलटियों, काउन्सिलों और दूसरी सभाओं आदि के मेम्बरों का चुनाव वोट द्वारा होता है। पर कौन नहीं जानता कि ऐसे अनेक वोट केवल धन देकर संग्रह किए जाते हैं। पर स्वतंत्रता के उपयोग या रक्षण का यह कोई अच्छा मार्ग नही है। इस प्रकार जो लोग अपने आपको बेचते हैं, वे गुलाम है और उन्हें खरीदने-वाले बेईमान हैं। जो वोटरों को देने और उनके आदर-सत्कार आदि में जितना धन व्यय कर सकता है, वही "बहुमत" से चुन लिया जाता है। इसी लिये एक बड़े विद्वान् ने कहा है—"बहुमत कोई चीज नहीं है। वास्तव में समझ बहुत ही कम आदमियों में होती है। वोटों की गिनती नही होनी चाहिए, बल्कि उनका वजन या महत्व देखा जाना चाहिए। वह राज्य

कभी न कभी अवश्य नष्ट हो जायगा जिसमें केवल संख्या ही देखी जाती है और निर्णय अज्ञानता करती है।"

संसार में अधिकांश संख्या मूर्खों और अज्ञानियों की ही है। वे किसी सिद्धान्त या तत्व को समझने में प्रायः नितान्त असमर्थ ही हुआ करते हैं। और समझदार लोग उनकी मूर्खता से लाभ उठाकर अपना काम निकालते हैं। पर आजकल का सभ्य और शिक्षित समाज उनके इस प्रकार लाभ उठाने और दूसरों को धोखा देने को निन्दनीय और दूषित नहीं समझता। उलटे धोखा देनेवाले की बुद्धि की प्रशंसा होती है और उनका आदर बढ़ता है। पर यदि नैतिक दृष्टि से विचार किया जाय तो ऐसे लोगों की गिनती भी वास्तव में बेईमानों में ही होगी।

सारी दुनियाँ में आजकल रिश्वत का बाजार भी खूब गरम है। रिश्वत लेनेवालों को अपने पद की मर्य्यादा या गौरव का तनिक भी ध्यान नहीं रहता। आजकल रिश्वत की चाल इतनी बढ़ गई है कि संसार में बहुत अधिक कार्य्य केवल रिश्वत से ही होते हैं। किसी देश के किसी सरकारी महकमे में चले जाइए, किसी न किसी रूप में वहाँ आपको रिश्वत का राज्य अवश्य दिखाई पड़ेगा। आपको ऐसे नौकर कम नहीं मिलेंगे जो अपना नियत वेतन केवल पान-तमाकू और हाथ-खर्च में ही समाप्त कर देते हों और जिनका सारा खर्च उनके वेतन से चौगुना और पँचगुना हो। कचहरी,

पुलिस, रेल्वे, कमसरिएट आदि विभागों में ऐसे आदमी भरे पड़े हैं। विना हाकिम को खुश किए जल्दी ठीके नही मिलते। विना बीचवालों की मुट्ठी गरम किए माल नहीं बिकता। सड़क बनाने का ठीका लेनेके लिये पहले इंजीनियर साहब से मिलना चाहिए; नौकरी की उम्मेदवारी में हेडक्लर्क साहब से बात करनी चाहिए और यहाँतक कि जिसे बाबू साहब के यहाँ दूध देना हो, उसे भी पहले खिदमतगार को ठीक कर लेना चाहिए! यह दशा किसी एक देश की नही, संसार के प्रायः सभी देशों की है। भारत मे पुलिसवालों को रिश्वत से बचाने के लिये सरकार को उनका वेतन बढ़ाना पड़ता है। स्पेन के बदरों में चुंगी के अफसरों को विना कुछ दिए कोई जहाज घुसने नही पाता। मिस्र की दशा भी ऐसी ही शोचनीय है। और रूस तो पहले घूस का घर था। वह इस बात में सबसे आगे बढ़ा चढ़ा था। कहते हैं कि मास्को और पिटर्सबर्ग-रेल्वे के बनने में बहुत अधिक धन लगा था। इंजीनियर और ठीकेदार आदि बहुत से रुपए खा गए थे। इसके संबंध मे एक बड़ी ही अद्भुत कथा प्रसिद्ध है। फारस का एक राज-प्रतिनिधि एक बार रूस गया था। रूस के सम्राट् ने उसे अपनी राजधानी की सारी बड़ी बड़ी इमारतें और अच्छी अच्छी चीजें दिखला दी, पर उसे तनिक भी आश्चर्य या कुतूहल न हुआ। अंत में सम्राट् ने अपने एक साथी के कान में झुककर धीरे से पूछा—"क्या कोई ऐसी

चीज नहीं है जिसे हम उनको दिखलाकर चकित कर सकें ?" उसने चट उत्तर दिया—"जी हाँ ! क्यों नहीं है। आप उसे मास्को और पिटर्सबर्ग रेलवे का हिसाब दिखलाइए।"

अमेरिका में है तो प्रजा-तंत्र राज्य, और ऐसा राज्य सर्वोत्तम समझा जाता है। पर वहाँ भी रिश्वत खूब ही चलती है। वहां बड़े बड़े अफसरों को घोड़े और गाड़ियां बल्कि नकद थैलियां तक रिश्वत में दी जाती हैं। जब वहाँ राज्याधिकार एक दल से दूसरे दल के हाथ में जाता है, तब मानों सभी विभागों की काया-पलट हो जाती है—एक सिरेसे पुराने आदमी निकाले और नए भर्ती किए जाते हैं। उस समय वहाँ की रिश्वत की बहार देखने योग्य होती है। इसमें किसी विशिष्ट राज्य या शासन-प्रणाली का दोष नहीं है: यह दोष तो व्यक्तिगत है और इसका मूल नैतिक शिक्षा का अभाव है। राजकीय शक्ति का यदि सदुपयोग किया जाय तो वह सर्वसाधारण के लिये लाभदायक और कल्याणकारक होती है; और यदि उसका दुरुपयोग किया जाय तो वह बड़ी ही घातक होती है। जहां इस प्रकार का अनर्थ शासक-वर्ग से आरंभ हो, वहाँ के निम्न-वर्ग के लोगों की दुर्दशा का फिर क्या पूछना है। सत्यता की तो वहाँ हत्या हो जाती है और सिद्धांत की अन्त्येष्टि होने लगती है। श्रद्धा, विश्वास तथा दूसरे सद्गुण नष्ट हो जाते है और समाज में धन के लिये तरह तरह के पाप और अनर्थ होने लगते हैं।

पर सभी देशों और युगों में ऐसे आदमी भी हुआ करते हैं जिन्हें किसी प्रकार का लोभ सत्पथ से नहीं गिरा सकता। दरिद्र से दरिद्र मनुष्य ने भी धन के लोभ में पड़कर कोई अनुचित कार्य्य करना अस्वीकार कर दिया है। भारतवासी सदा से धन-संपत्ति और ऐहिक सुखों को तुच्छ और अनेक दुर्गुणों तथा दोषों का मूल समझते आए हैं। अमेरिका के आदिम निवासी इंडियनों में जो लोग वीर होते हैं, वे धन को सदा तुच्छ समझते हैं। उनका सरदार बहुधा बहुत ही दरिद्र हुआ करता है। आर्य्यों, यूनानियों और रोमनों आदि में मानव-जाति का कल्याण तथा परोपकार करनेवाले जितने महात्मा हुए हैं, वे सब प्रायः दरिद्र और धनहीन ही थे। यहाँ तक कि प्राचीन आर्य्य महात्मा धन को स्पर्श करना भी निंदनीय समझते थे। इसका मुख्य कारण यही है कि धन के कारण बहुधा सद्गुणों और सद्भावों का नाश ही हुआ करता है। द्रोणाचार्य्य और चाणक्य, चैतन्य महाप्रभु और नानक, तुलसी और सूर, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर और महादेव गोविंद रानडे यदि धन के तनिक भी उपासक होते, तो वे लोकोपकार का कोई काम ही न कर सकते। साक्रेटीस और सिसरो ने धन को सदा तुच्छ ही समझा था। सर आर्थर वेलेस्ली (बाद में ड्यूक आफ वेलेस्ली) और लार्ड लारेन्स यदि भारतीय राजाओं से रिश्वतें लेते, तो भारतवर्ष में अँगरेजों के पैर न जमते। अच्छे और भारी काम वही

लोग कर सकते हैं जो धन को अपने पैरों की धूल समझते हैं। जिनकी दृष्टि केवल धन पर ही होगी, वे क्या कोई सत्कार्य करेंगे ! सर डेवी ने जब बड़े परिश्रम से कोयले की खानों में काम करनेवाले मजदूरों के लिये ऐसे लंप का आविष्कार किया जिससे गैस में आग न लग जाय, तब उन्होंने उसे पेटेन्ट नहीं कराया, बल्कि सर्वसाधारण के उपयोग के लिये उसे यों ही छोड़ दिया। एक मित्र ने उनसे कहा कि यदि आप इसे पेटेन्ट करा लेते तो हर साल घर बैठे आप को दस पांच हजार पाउंड मिल जाते। आपने उत्तर दिया— " मैंने तो यह आविष्कार केवल मानव जाति के उपकार के लिये किया है। संभव है कि अधिक धन मेरा ध्यान उत्तम कार्यों की ओर से हटा दे। इसमें संदेह नहीं कि रुपए पाकर मैं चार घोड़ों की गाड़ी पर चढ़ सकूँगा; पर लोगों के इस कहने से मुझे लाभ ही क्या होगा कि सर डेवी चौकड़ी पर चढ़कर निकलते हैं ?"

वास्तव में संपन्नता और दरिद्रता कोई अलग पदार्थ नहीं है। धनवान् वही है जिसका व्यय उसकी आय से कम हो; और जो अपनी आय से अधिक व्यय करता हो वही दरिद्र है। संपन्नता और सुख का भी कोई संबंध नहीं है। जो मनुष्य संतुष्ट रहता है वही सुखी है, चाहे उसके पास कुछ भी न हो। करोड़पती मनुष्य को भी यदि सन्तोष न हो और उसे सदा धन की हाय हाय लगी रहे तो वह सदा दुःखी ही

रहेगा। संतोष का स्थान भोग-विलास और शक्ति आदि से कहीं ऊँचा है। मनुष्य का वास्तविक धन सन्तोष ही है। इसी लिये गोस्वामी तुलसीदास जी ने कहा है—

गो-धन, गज-धन, वाजि-धन और रतन-धन खान।
जब आवै सन्तोख-धन, सब धन धूरि समान॥

चौथा प्रकरण

साहस और अध्यवसाय

साहस एक ऐसा गुण है जिसका आदर प्रत्येक मनुष्य बड़ी प्रसन्नता से करता है। जीवन की सारी कठिनाइयाँ केवल शक्ति से ही दूर होती हैं। दृढ़-प्रतिज्ञा के सामने किसी प्रकार का भय नहीं ठहर सकता। यदि आवश्यकता पड़े तो मनुष्य उसके बल पर अपनी प्रतिज्ञा के पालन के लिये अपने प्राण तक दे देगा।

भला कायरता को कौन सराहेगा? संसार में सब लोग उसे बुरा ही कहेंगे। कायर मनुष्य नीच और नामर्द होता है। उसमें अपने विचारों के बल पर खड़े होने का साहस नहीं होता। वह सदा गुलाम बनने के लिये तैयार रहता है। ऐसे मनुष्य में सद्गुणों का प्रायः अभाव ही रहता है। पर जो मनुष्य साहसी होता है, उसमें अनेक सद्गुण आपसे आप आ जाते हैं। दूसरों पर उसका प्रभाव बहुत ही अद्भुत रूप से पड़ता है और वह दूसरों के लिये आदर्श हो जाता है। उसके साथियों और संबंधियों में भी अनेक गुणों का संचार होने लगता है। लोग उसका साथ और अनुकरण करके अपने प्राण तक दे देते हैं।

जो लोग कोई बहुत बड़ा काम कर लेते हों, वास्तव में वे

आदर या प्रशंसा के पात्र नहीं होते। वास्तविक आदर और प्रशंसा के पात्र वे ही हैं जो उस कार्य्य को आरम्भ करते अथवा उसकी पूर्त्ति में किसी प्रकार सहायक होते हैं। समाज के लोगों पर सब से अच्छा प्रभाव उन्हीं लोगों का पड़ता है जो एक बार किसी कार्य्य में विफल हो जाते हैं। संभव है कि किसी बड़े कार्य्य को आरंभ करनेवाला उद्योगी पुरुष बीच में ही मर जाय, पर उसकी मृत्यु दूसरों के लिये शिक्षाप्रद और उत्साहजनक होती है। बहादुर सिपाही आगे बढ़कर किले को घेरते और लड़कर वीरगति प्राप्त करते हैं; और उनके शरीर खाइयों में पड़कर उन लोगों के लिये पुल का काम देते हैं जो विजयी होकर किले में प्रवेश करने के लिये आगे बढ़ते हैं।

वीर मनुष्य कार्य्य आरंभ करके बलि पड़ सकता है, पर उसकी मृत्यु से नए तेज, नई शक्ति और नए उत्साह की सृष्टि होती है। उसकी स्मृति उसके शरीर के साथ ही नष्ट नहीं हो जाती, बल्कि वह औरों के हृदय में आशा तथा शक्ति का संचार करती है। उत्साही और उद्योगी मनुष्य मार्ग में ही मर सकते हैं; और अध्यवसायी लड़कर विजय प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार उद्देश चाहे विलम्ब से ही पूरा हो, पर जिस समय वह पूरा होता है, उस समय उसका यश केवल सफलता प्राप्त करनेवालों को ही नहीं मिलता बल्कि उन लोगों को भी मिलता है जो आरंभ या मध्य में उसके लिये

उद्योग करते और बिना सफलता प्राप्त किए ही उसके लिये अपने प्राण दे देते हैं।

संसार में जितने बड़े बड़े कार्य्य हुए हैं, वे सब साहस से ही हुए हैं। इस समय संसार में जितनी शांति और जितना सुख है, वह सब उद्योग और अध्यवसाय का ही फल है। संसार की वर्त्तमान शांति प्राचीन काल के भीषण युद्धों का फल है और वर्त्तमान भीषण युद्ध भविष्य की शान्ति का जनक होगा।

सत्य-पक्ष के समर्थन के लिये साहस की बड़ी भारी आवश्यकता हुआ करती है। यदि हम देखें कि कोई मनुष्य अन्याय करता है, तो उस समय साहस के अभाव के कारण हम उसे केवल बुरा समझकर ही चुप रह जाते हैं। उसे देखकर हमें कुछ क्रोध आता है और कुछ दुःख भी होता है; पर उस अन्याय के प्रतिकार के लिये हम कोई प्रयत्न नहीं करते, क्योंकि हम में उसका विरोध करने का साहस नहीं होता। यह न समझना चाहिए कि हममें उसका विरोध करने की शक्ति ही नहीं है, क्योंकि वास्तव में ऐसा बहुत ही कम होता है। प्रायः अनेक अवसर ऐसे ही होते हैं जिन पर हम बल रखते हुए भी केवल साहस के अभाव के कारण चुपचाप बैठे रह जाते हैं और प्रकारांतर से उस अन्याय के पाप के भागी होते हैं। ऐसे अवसर पर बल रहते हुए यदि हम केवल अपनी बलहीनता का ही विचार करने लग जायँ तो

हमारी गणना कायरों में होगी। पर यदि हम अपने बल का यथेष्ट ध्यान रखकर साहस करके उस अन्याय के प्रतिकार में लग जायँगे तो हम सहज में ही किसी दीन की रक्षा करने के अतिरिक्त लोगों की सहानुभूति और प्रीति भी सम्पादित कर लेंगे; और समाज को अन्याय से बचाकर दूसरों के लिये जो अच्छा आदर्श खड़ा कर देंगे, वह अलग। यदि हममें उस अन्याय के प्रतिकार के लिये पूरा पूरा बल न हो तो भी हम साहस करके उसमें लग जायँ तो आस पास के देखने-वालों में भी उत्साह और साहस का संचार हो जायगा। वे कमर कसकर हमारी सहायता के लिये आ जायँगे और तब उस अन्याय का सहज में ही प्रतिकार हो जायगा।

प्राचीन मिथ्या और हानिकारक विश्वासों को दूर करके उनके स्थान पर नवीन सत्य और लाभदायक विचारों का प्रचार करने में भी बड़े साहस और अध्यवसाय की आवश्यकता हुआ करती है। यदि बड़े बड़े धर्म्मात्माओं, वैज्ञानिकों और विद्वानों में साहस का अभाव होता तो आज दिन संसार इतना उन्नत और सभ्य न दिखाई पड़ता। जब किसी देश या समाज के अधिकांश भाग में कुरीतियों या कुविचारों का खूब प्रचार हो जाता है, तब उसका विरोध करने के लिये बहुत बड़े साहस और अध्यवसाय की आवश्यकता होती है। प्राचीन भारत में जब वैदिक धर्म्म अपने पूरे जोर पर जा पहुँचा, तब यज्ञों और उनमें होनेवाले बलिदानों

की सीमा न रह गई। जिस समय वैदिक याज्ञिक नित्य बलिदान के नाम से हजारों जीवों के प्राण लिया करते थे, कर्मकांड के झगड़े और तरह तरह के पाखंड बहुत बढ़ गए थे, उस समय वैदिक धर्म की प्रबलता इतनी अधिक थी कि लोगों को किसी प्रकार उसका विरोध या निषेध करने का साहस ही न होता था। जो लोग तत्कालीन अन्यायों या अत्याचारों से दुःखी थे, वे भी नास्तिक कहलाए जाने के भय से उनका विरोध न कर सकते थे। पर कोई अवस्था अधिक समय तक नहीं ठहर सकती; और विशेषतः ऐसी दूषित और हानिकारक अवस्था का अधिक समय तक ठहरना तो और भी कठिन होता है। उस समय भारत में एक ऐसे महापुरुष उत्पन्न हुए जिनका नैतिक साहस समस्त संसार के लिये आदर्श हो सकता है। वे महापुरुष भगवान् बुद्ध थे। उन्होंने देश और समाज की दशा देखी, पशुओं और यहाँ तक कि मनुष्यों पर बलिदान के नाम से होनेवाले अत्याचारों का निरीक्षण किया और साहस करके वे उनके प्रतिकार में लग गए। उन्होंने "अहिंसा परमो धर्म्मः" का उपदेश आरंभ किया। पहले तो वैदिक ब्राह्मणों ने उनका विरोध किया; पर जब भगवान् की देखा देखी लोगों में साहस बढ़ता गया और लोग उनके अनुयायी तथा सहायक होने लगे, तब वैदिक ब्राह्मणों का वश न चला। भगवान् बुद्ध ने यज्ञों और बलि-दानों का प्रायः अंत ही करके छोड़ा। और आज एशिया

के निवासियों का बहुत बड़ा अंश उनका अनुयायी और बौद्ध है।

ईसा के जन्म से प्रायः चार सौ वर्ष पहले यूनान देश के प्राचीन धर्म्म की दशा बड़ी विलक्षण थी। कल्पित दैवी शक्ति के कारण होनेवाले चमत्कारों, भूतों, प्रेतों, उड़नेवाले राक्षसों तथा नृसिंहों और क्रूरकर्म्मा दैत्यों पर ही लोगों की धार्मिक श्रद्धा होती थी। और इन सब विचारों का मूल केवल अनेक प्राचीन दन्तकथाएँ और कविताएँ आदि ही थीं। उस समय तक यूनानी प्रायः कूप-मंडूक ही थे; उन्हें संसार का ज्ञान बहुत ही कम था। पर ज्यों ज्यों लोग व्यापार और युद्ध आदि के लिये विदेश-यात्रा करने लगे और ज्यों ज्यों उनमें अच्छे अच्छे तत्त्ववेत्ता होने लगे, त्यों त्यों उनका विश्वास इन निरर्थक बातों से हटता गया। पर यह न समझना चाहिए कि लोगों के ये धार्मिक विश्वास सहज में ही बदल गए। नहीं, उसके लिये ज्ञान का प्रसार करनेवालों को अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ, आपत्तियाँ और बदनामियाँ सहनी पड़ी। जन-समूह के विरुद्ध चलना और उनके अनेक प्रकार के आक्रमण और प्रहार सहकर सत्य पथ के समर्थन और स्थापन में निरंतर लगे रहना कुछ कम साहस और अध्यवसाय का काम नहीं है। जिन लोगों ने पहले पहल मिथ्या विश्वासों को दूर करके सत्य ज्ञान का प्रसार करना चाहा था, पहले तो लोगों ने उन्हें नास्तिक

करना आरम्भ किया और तदनंतर उनमें से कुछ की धन-सम्पत्ति छीन ली। आगे चलकर कुछ लोग देश से निकाल दिए गए और कुछ मार तक डाले गए। विद्वानों और तत्त्व-वेत्ताओं के साथ इस प्रकार के अनेक अत्याचार और अन्याय किए गए; पर अपने प्राचीन और मिथ्या विश्वासों को छोड़ने के लिये कोई तैयार न होता था। उलटे उनके समर्थन के लिये, आजकल के आर्य्य-समाजियों की तरह, अनेक प्रकार की युक्तियाँ लड़ाई जाती थीं। जिस प्रकार आजकल ये लोग वेद को संसार भर के ज्ञान का भांडार मानते हैं, उनमें से रेल, तार और वायु-यान ही नहीं बल्कि फोनोग्राफ और फाउन्टेन पेन भी निकालने का प्रयत्न करते हैं और अपने सिद्धांत का खंडन करनेवाली बातों का खींच तानकर उलटा और अपने मतलबका अर्थ निकालते अथवा उन्हें रूपक और कूट बतलाते हैं, उसी प्रकार वे लोग भी अपने प्राचीन विश्वासों को सत्य बतलाते और उनके समर्थन के लिये तरह तरह की युक्तियाँ लड़ाते और क्लिष्ट-कल्पनाएँ करते थे। पर इसमें व्यक्ति या जाति-विशेष का कोई दोष नहीं है। जब लोग अज्ञानता और असभ्यता के राज्य से निकलकर ज्ञान और सभ्यता के राज्य में जाने लगते हैं, तब मार्ग में उनके विचारों और विश्वासों में नियमानुसार इसी क्रम से परिवर्त्तन होता है। अर्थात् ये अवस्थाएँ ऐसी हैं, सर्वसाधारण की सम्मति को जिन्हें पार करना आवश्यक होता है। जिस पर लोग

बहुत दिनों से श्रद्धा रखते आये हों, सहसा उसका त्याग कठिन, बल्कि प्रायः असंभव हुआ करता है। लोग पहले उसका येनकेनप्रकारेण समर्थन करना ही अपना कर्त्तव्य समझते हैं और आगे चलकर अनेक प्रकार की युक्तियाँ लड़ाते हैं। पर सत्य बहुत समय तक दबा या छिपा नहीं रह सकता, इसलिये लोगों मे मतभेद उपस्थित होता है और कुछ समय तक वाद-विवाद चलता है। और ज्यों ज्यों सत्य का स्वरूप प्रकट होता जाता है, त्यों त्यों उसका पक्ष भी प्रबल होता जाता है और अंत में वह प्राचीन विश्वास सर्वथा अमूलक समझकर त्याग दिया जाता है।

जिस समय पहले पहल ईसाई धर्म्म का प्रचार हुआ, उस समय रोमन लोग उसके बहुत ही विरुद्ध थे। रोमनों के प्रत्येक नगर में बड़े बड़े अखाड़े बने हुए थे जिनमें वे जंगली हिंसक पशुओं के साथ ईसाइयों को छोड़ देते थे। जब वे हिंसक पशु उन ईसाइयों को मार डालते, तब दर्शक रोमनों को बड़ा ही आनंद होता था। उन दिनों रोमनों के लिये इससे बढ़कर मनोविनोद का और कोई खेल था ही नहीं। सन् ३०६ ई० में राजा कान्स्टेन्टाइन ने कई हजार कैदी फ्रैंकों को अखाड़े में जंगली जानवरों के सामने छोड़ दिया था और यह तमाशा देखने के लिये उसने अपनी सारी प्रजा को निमंत्रित किया था। उसमें यहाँ तक हुआ था कि स्वयं जानवर ही मनुष्यों कि हत्या करते करते थक गए और अंत में उन्होंने

लोगों के प्राण लेना छोड़ दिया। उनमें से जो लोग बच गए, वे परस्पर एक दूसरे से लड़ने के लिये विवश किए गए। पर आपस में लड़कर अपने प्राण बचाने अथवा दूसरों के प्राण लेने की अपेक्षा उन लोगों ने स्वयं जान बूझकर एक दूसरे की तलवार पर गिरकर अपने प्राण दे देना ही कहीं अधिक उत्तम समझा। यह सारा भीषण कांड रोमनों के मनोविनोद के लिये हुआ था! प्रायः सारे यूरोप में रोमनों के बनवाए हुए इस प्रकार के बहुत बड़े बड़े अखाड़े थे। फ्रान्स में एक अखाड़ा इतना बड़ा था कि उसकी बाहरी दीवार पर फ्रैंकों से लड़ने के लिये मूरों ने चार जगह किलेबन्दियाँ की थीं। रोम नगर में कोलोसियम नाम का जो सबसे बड़ा अखाड़ा है, उसमें ८५००० आदमी बैठ सकते थे। उस अखाड़े के तैयार होने पर वहाँ ५००० पशुओं की बलि दी गई थी। इसके उपरांत शेरों और चीतों ने जितने मनुष्यों की हत्या की थी, उसकी गिनती हो ही नहीं सकती।

रोम नगर के कोलोसियम में जिस दिन यह भीषण व्यापार होता था, उस दिन सारे नगर में छुट्टी रहती थी। स्त्रियाँ-पुरुष, छोटे-बड़े सभी वह निर्दयता का व्यापार देखने के लिये एकत्र होते थे। रोमन सम्राट् के साथ साथ राज्य के सभी बड़े बड़े कर्म्मचारी, न्यायाधीश और धर्माधिकारी वहाँ उपस्थित रहते थे। हिंसक पशुओं के सामने मनुष्य छोड़ दिए जाते थे और उनका छटपटाना और तड़पना देखकर

दर्शक बड़े ही प्रसन्न होते थे। यह तमाशा दिन भर होता रहता था, यहाँ तक कि स्वयं दर्शक भी देखते देखते घबरा जाते थे।

रोम में ये क्रूरतापूर्ण कृत्य बहुत दिनों तक होते रहे। पर सन् ४०० मे एक वृद्ध महात्मा ने उस कुप्रथा का अंत करना विचारा। उसने निश्चित कर लिया कि इसे रोकने के लिये मैं अपने प्राण तक दे दूँगा। हजारों लाखों आदमियों की हत्या के सामने उस एक बुड्ढे की जान क्या चीज थी? उस महात्मा का लोगों को नाम तक ठीक ठीक नहीं मालूम है। कोई कहता है कि उसका नाम एलियेकस था और कोई कहता है कि टेलिमेकस। पर इसमें संदेह नहीं कि उसका साहस बहुत ही अभूतपूर्व और प्रशंसनीय था। इस निर्दयतापूर्ण कृत्य का समाचार सुनकर वह बहुत दूर पूर्व से आया था। न तो उसे कोई जानता था और न वह किसी को जानता था। सब नगरनिवासियों को मालूम था कि आज अखाड़े में तमाशा होगा। सारा रोम वहाँ टूट पड़ा था। उस दिन हिंसक पशुओं के सामने मनुष्य नहीं छोड़े जानेवाले थे, बल्कि हथियार-बंद आदमी ही आपस में लड़ाए जानेवाले थे। सब नगरनिवासियों के साथ वह बुड्ढा भी अखाड़े में पहुँच गया। बहुत से आदमी हाथ में तलवारें और भाले ले लेकर अखाड़े में उतर आए। प्राणनाशक युद्ध आरम्भ होने को ही था कि इतने में वह बुड्ढा दीवार पर से

अखाड़े में कूद पड़ा और जाकर दो दलों के बीच में खड़ा हो गया। उसने उन लोगों को व्यर्थ रक्तपात करने से मना किया। चारों ओर से लोग चिल्ला चिल्लाकर कहने लगे—"हट जा, बुड्ढे! हट जा!" पर वह काहे को हटता? लड़नेवालों ने उसे धक्का देकर एक तरफ गिरा दिया और आगे बढ़कर एक दूसरे पर आक्रमण करना चाहा। पर वह बुड्ढा फिर उठकर उन लोगों के बीच में आ गया और उनकी तलवारों और बरछियों के सामने खड़ा होकर उन्हें रक्तपात करने से मना करने लगा। सब लोगों ने चिल्लाकर कहा—"इसे भी खतम करो।" ईश्वर की इच्छा पूरी हुई। लड़नेवालों ने उसे काट डाला और उसकी लाश पर खड़े होकर लड़ना आरम्भ किया।

पर उस वृद्ध की मृत्यु व्यर्थ नहीं हुई। सब लोग चिंतित होकर उस घटना पर विचार करने लगे। उन लोगों ने एक ऐसे त्यागी वृद्ध धर्म्मात्मा के प्राण लिए थे, जो उन्हें निरर्थक रक्तपात और पैशाचिक कृत्यों से रोकना चाहता था। उन्हें अपनी निर्दयता पर बड़ा ही शोक हुआ। जिस दिन उस वृद्ध ने अपने आपको कोलीसियम में बलि चढ़ाया था, उस दिन से वहाँ फिर कभी वैसा पैशाचिक हत्याकांड नहीं हुआ। उस महात्मा की मृत्यु काम कर गई। सन् ४०२ में राजा होनोरियस की आज्ञा से वह भीषण कांड सदा के लिये रोक दिया गया। उस महात्मा का शव बड़ी धूमधाम से अखाड़े

के चारों ओर घुमाया गया और पास के एक गिरजे में बड़े आदर के साथ रख दिया गया।

इस घटना से दो बड़ी ही अच्छी शिक्षाएँ मिलती हैं। एक तो यह कि केवल एक बुड्ढे ने साहस करके—अपनी जान पर खेलकर—लाखों आदमियों की व्यर्थ होनेवाली हत्या रोकी। यदि वह वृद्ध उस दिन साहस करके अखाड़े मे कूद न पड़ता तो न जाने वह नर-हत्या और कितने दिनों तक होती रहती। यदि वह केवल यही समझकर रह जाता कि इतने बड़े रोमन साम्राज्य और उसकी बहुसंख्यक प्रजा की इच्छा के विरुद्ध मुझ सरीखे एक दीन वृद्ध के किए क्या होगा, तो क्या वह नर-हत्या उस समय बंद हो जाती? और क्या आज हमे उसका वर्णन करने और आपको सुनने का अवसर मिलता? तात्पर्य्य यह है कि संसार में कोई मनुष्य, कोई पदार्थ तुच्छ नहीं है। सबसे काम हो सकता है। अपने आपको अथवा किसी पदार्थ को अकर्म्मण्य, तुच्छ और निरर्थक समझना अपनी अथवा उसकी शक्ति का नाश करना है। बहुत छोटा सा कॉंटा पैर में गड़कर मनुष्य को व्याकुल कर सकता है; हाथी के प्राण एक जरा सी च्यूँटी ले लेती है; और समय पर थोड़ा सा साहस बहुत बड़े बड़ काम कर सकता है। प्रत्येक मनुष्य में साहस है, बल है, योग्यता है, और सब कुछ है। आवश्यकता है केवल उसे जानने और उससे काम लेने की। शेख सादी के एक वचन का अभिप्राय है,—

हर एक हड्डी में मग्ज़ या गूदा है और प्रत्येक शरीर में मनुष्यत्व है।*

दूसरी शिक्षा जो इस घटना से ग्रहण की जा सकती है, वह दोहरी है। एक तो यह कि जब मनुष्य को धन और अधिकार मिल जाता है तब वह बहुधा उन्मत्त, क्रूर और दुराचारी हो जाता है; उसे अच्छे बुरे का ज्ञान नहीं रह जाता; वह दूसरों को हेय और तुच्छ समझने लगता है; और उस दशा में प्रायः सभी सद्गुण उसे छोड़कर चले जाते हैं। उस समय रोम-वालों की भी यही दशा थी। उनका राज्याधिकार बहुत बढ़ गया था और उनका मुक़ाबला करनेवाला कोई रह न गया था। एक शक्ति के मुक़ाबले में जब तक और कोई दूसरी शक्ति तैयार न हो तब तक वह शक्ति न्याय मार्ग पर नहीं रह सकती। इसी लिये रोमनों ने अन्यायपथ ग्रहण किया था। दूसरी बात यह है कि जब किसी मनुष्य, जाति अथवा देश में धन, वैभव और अधिकार के कारण मदोन्मत्तता आ जाती है, तब उसका वह वैभव और अधिकार अधिक समय तक नहीं ठहरता। अथवा यही बात इस प्रकार कही जा सकती है कि जब मनुष्य का नाश या अधःपतन समीप आ जाता है, तभी उसे धन और अधिकार का उन्माद भी आ घेरता है। रोम का प्राचीन गौरव उसके दुराचारों, दुष्कृत्यों और निर्दयताओं के कारण

---

* مغزیست در ہر استخوان مردیست در ہر پیرہن –

ही नष्ट हुआ। इसी प्रकार अन्यान्य देशों के भी उदाहरण दिए जा सकते हैं।

जिन लोगों को वैभव और अधिकार मिलता है, वे बड़े कहलाते हैं। ऐसे लोग जब मदोन्मत्त होकर दूषित और निंद-नीय कृत्य करने लगते हैं, तब छोटे लोग भी "महाजनो येन गतः स पन्थः" के न्यायानुसार उनका अनुकरण करने लगते हैं। जब लोगों के व्यवहार और कार्य्य आदि असद् हो जाते हैं तब उनके सिद्धान्तों में भी असद् भाव आ जाता है। वह मनुष्य नीति-पथ से हटने लगता है और उसके सबसे बड़े बल आचरण का नाश होने लगता है। पहले यूनान और रोम के शासक ही नीति-भ्रष्ट हुए थे और परिणाम-स्वरूप वहाँ की प्रजा भी बुरे मार्ग में लगी थी। समस्त संसार के प्राचीन स्वामी रोम को अंत में मध्य युरोप के जंगलियों के हाथों नष्ट होना पड़ा। वहाँ के अमीर आनंद-मंगल में मस्त थे और गरीब बड़ी ही दुरवस्था में उनके दान से अपने दिन बिताते थे। उनके हृदयों में अपनी और अपने देश की रक्षा करने का बल या साहस नहीं था। और वास्तव में उस दशा में बने रहने की अपेक्षा उनका नष्ट हो जाना ही कहीं अच्छा था।

स्पेन देश भी किसी समय बड़ा सम्पन्न और वैभवशाली था। पर जब वहाँ के राजाओं और अधिकारियों ने भी अन्याय-पथका अवलंबन किया, तब उसका भी अधःपतन हुए बिना न रहा। वहाँ का राजा द्वितीय फिलिप बड़ा ही अत्याचारी

था। वह प्रोटेस्टेन्ट ईसाइयों का कट्टर विरोधी और शत्रु था। सन् १५६८ में उसने आज्ञा दी थी कि निदरलैंड्स के समस्त प्रोटेस्टेन्ट मार डाले जायँ। पर उसको इस क्रूर आज्ञा के पालन के यथेष्ट साधन ही नहीं थे, इससे उसका पूरा पूरा पालन न हो सका। तो भी उसके मंत्री ने अपनी ओर से प्रोटेस्टेन्ट लोगों का अंत करने में कोई बात उठा नहीं रखी। वह प्रायः एक सप्ताह में आठ आठ सौ मनुष्यों को हत्या कराया करता था। धनी और निर्धन सभी प्रोटेस्टेन्ट लूटे और मारे जाते थे। इसके अतिरिक्त धनी कैथोलिक भी इस अन्याय और अत्याचार से नहीं बचने पाते थे। उन दिनों वहाँ प्रोटेस्टेन्ट होना तो पाप था ही, साथ में धनी होना भी बड़ा भारी पाप था। प्रायः छः वर्षों में अलवा ने अट्ठारह हजार मनुष्यों को मरवाया, जलवाया और डुबवाया था। उसके शासनाधिकार में होनेवाले युद्धों में जो हजारों आदमी मारे गए थे, वे अलग। पर इस अन्याय और अत्याचार का फल क्या हुआ? यही कि उसका सारा वैभव नष्ट हो गया और इस समय देश का प्रायः दिवाला सा निकला हुआ है। वहाँ के लोग प्रायः अशिक्षित हैं और उन्हें कोई पूछनेवाला नहीं है। वहाँ के लोगों में धर्मभाव नहीं रह गया और उनमें से अधिकांश नास्तिक हो गए हैं। देश की सब प्रकार से दुर्दशा ही दुर्दशा है।

किसी समय फ्रांस की दशा भी वैसी ही शोचनीय थी

जैसी स्पेन की। धार्मिक मत-भेद के कारण वहाँ भी हजारों आदमी लूटे, मारे, जलाए और डुबाए गए थे। पर दानवों में देवता और बुरों में अच्छे भी हुआ करते हैं। एक बार वहाँ के एक महानुभाव ने, जो वहाँ के चैन्सेलर थे, अपने भाइयों का अत्याचार और अन्याय देखकर उन्हें उपदेश दिया था कि आप लोग अपना जीवन सद्गुणों और सद्भावों से अलंकृत करें; अपने विरोधियों पर दया दिखलावें और उनके साथ उत्तम व्यवहार करें; सम्प्रदाय-भेद को दूर करके आप सब लोग सच्चे ईसाई बन जायँ। पर मदांध फ्रांसीसियों ने इस उपदेश के लिये उलटे उन्हें नास्तिक कहना आरंभ किया। इसी प्रकार नवें चार्ल्स ने अपने अधीनस्थ एक प्रांत के गवर्नर को आज्ञा भेजी कि तुम वहाँ के सब प्रोटेस्टेंटों को मरवा डालो। उस गवर्नर ने उत्तर में लिख भेजा कि मैंने श्रीमान् की आज्ञा का समस्त सिपाहियों और नगर-निवासियों में प्रचार कर दिया; पर कठिनता यह है कि वे सभी सज्जन और वीर योद्धा हैं; हत्यारा उनमें से एक भी नहीं निकला। राजा चौदहवें लूई की आज्ञाएँ भी ऐसी ही क्रूर और निर्दयतापूर्ण हुआ करती थीं। उसने एक बार आज्ञा दी थी या तो सभी प्रोटेस्टेंट अपना मत बदल डालें और या मृत्यु के लिये तैयार हो जायँ। पर उन लोगों ने अपने विश्वास के विरुद्ध कोई और धर्म्म ग्रहण करना स्वीकार न किया। उन्होंने अपनी जायदादें छोड़ दीं,

अपनी उपाधियाँ त्याग दीं और अपना सर्वस्व अपने शत्रुओं को दे दिया। वे लोग फ्रांस छोड़कर दूसरे देशों में चले गए और वहाँ शांतिपूर्वक कारबार करके रहने लगे। उनमें से बहुत से लोग वहीं फ्रांस में राजाज्ञा से पहियों के नीचे कुचलवाकर, कुल्हाड़ियों से अथवा अन्य प्रकारों से बड़े बड़े कष्ट पहुँचाकर मरवा डाले गए थे। पर तो भी उन लोगों ने अपना धर्म्म परिवर्तित करना उचित न समझा। उन्होंने अपने प्राणों का मोह नहीं किया और कर्त्तव्य के पालन में अपना बलिदान कर दिया। सदाचार और आशयों की उच्चता में दूसरे फ्रांसीसी कभी उनकी बराबरी नहीं कर सकते थे। वहाँ के इतिहासों में अन्यायी और अत्याचारी राजाओं तथा रानियों और भीषण युद्धों, विजयों और पराजयों के तो बहुत से वर्णन हैं, पर उन महात्माओं का कोई जिक्र ही नहीं है। फ्रांसीसियों के इन अन्यायों और अत्याचारों का जो परिणाम हुआ, वह भी बहुत ही शिक्षाप्रद और सुनने लायक है। चौदहवें लूई के बाद सारा देश दरिद्र और नष्ट हो गया था, खजाने में एक पैसा नहीं था, लोगों पर भारी भारी कर लगे हुए थे, कृषि और व्यापार का पूरी तरह से नाश हो गया था और राजद्रोहियों की संख्या बहुत बढ़ गई थी। तात्पर्य्य यह कि देश की दुर्दशा का कोई ठिकाना नहीं था। अंत में फ्रांस में बड़ी भारी राज्यक्रांति हुई, इतिहास में जिसका वर्णन पढ़ने से

मनुष्य को रोमांच हो आता है और उसकी आँखें खुल जाती हैं।

उस जमाने मे प्रायः सब देशों की यही दशा थी। इंगलैंड या स्काटलैंड भी उस दोष से नहीं बच सका था। यहाँ भारत में उस समय मुसलमानों का राज्य था। समस्त देश में हिंदुओं पर बड़े बड़े अत्याचार होते थे। ये लोग बलपूर्वक मुसलमान होने के लिये विवश किए जाते थे। इसी बल-प्रयोग में प्रायः बहुत से लोगों के प्राण भी जाते थे। हिंदू अपने प्राण दे देते थे, पर वे अपना धर्म्म परिवर्त्तित करने के लिये तैयार न होते थे। केवल धार्मिक भेद के कारण ही छोटे छोटे राज्यों पर विशाल मुगल सेनाओं के आक्रमण होते थे जिनमें हजारों योद्धाओं के अतिरिक्त बहुत से निरपराध नगरनिवासी भी मारे जाते थे। मुसलमानों के अत्याचारों के भय से हजारों स्त्रियों को चिता लगाकर जल मरना पड़ता था। हिंदुओं को पालकी पर चढ़ने या छाता लगाकर चलने का अधिकार नहीं था। बड़े बड़े धनवान् सेठों और साहूकारों को बड़ी ही दीन-हीन और दरिद्रावस्था मे रहना पड़ता था; क्योंकि जिन हिंदुओं के पास कुछ धन होने की शंका होती थी, उन्हें भारी भारी विपत्तियों का शिकार बनना पड़ता था। कभी खुले आम और कभी उन पर झूठे अभियोग लगाकर अत्याचार किए जाते थे और उनका सर्वस्व हरण किया जाता था। बेगमों को तमाशा

दिखलाने के लिये, राज-परिवार की स्त्रियों के मनोविनोद के लिये सैकड़ों हिंदू नावों पर चढ़ाकर नदियों में छोड़ दिए जाते थे और वे नावें तोप के गोलों से डुबा दी जाती थीं। नाव डूबने के कारण लोगों को छटपटाते, गोते खाते और डूबते हुए देखकर बेगमें खिलखिलाकर हँसती थीं। स्थान स्थान पर हिंदुओं के जनेऊ और मंदिर तोड़े जाते थे और उनके स्थान पर मसजिदें बनती थीं। विषय-लोलुप और आचार-भ्रष्ट मुसलमान बलपूर्वक हिंदू बालाओं को उठा ले जाते थे। उन बालाओं का या तो सतीत्व नष्ट होता था और या मारा जाते थे। हिंदुओं को विवाह आदि कार्य्य बहुत ही छिप छिपकर और गुप्त रूप से करने पड़ते थे। यदि मुसलमान अधिकारियों को विवाह का पता लग जाता, तो बहुधा वे वधू को छीन लेने का प्रयत्न करते थे। इसी प्रयत्न में कभी कभी बहुत से लोगों की हत्या हो जाती थी। तात्पर्य्य यह कि उस समय के मुसलमान अधिकारी बड़े ही धर्म्मांध, अविवेकी और विषयलोलुप थे; और उन्हीं सब दोषों का यह परिणाम था कि हिंदुत्व के कट्टर विरोधी और शत्रु औरंगजेब के मरते ही इतना बड़ा मुगल साम्राज्य बात की बात में नष्ट हो गया।

पर अब जमाना बदल गया है। अब संसार में कहीं धार्मिक झगड़ों अथवा इसी प्रकार की दूसरी बातों के कारण वैसे अन्याय और अत्याचार नहीं होते। अब लोग न तो जीते

जी जलाए जाते हैं, न पहियों या हाथियों के पैरों के नीचे कुचलवाए जाते हैं। पर आजकल भी अपने विवेक के आज्ञानुसार कार्य्य करने के लिये साहस की उतनी ही आवश्यकता है, जितनी उन अन्याय और अत्याचार के दिनों में थी। बल्कि आजकल तो नीति और न्याय से अनुमोदित कार्य्य करने में और भी अधिक कठिनाइयाँ हैं। पर प्रत्येक मनुष्य को इन कठिनाइयों की परवा न करके सदा अपने विवेक के आज्ञानुसार कार्य्य करने का साहस करना चाहिए।

संसार में लोगों को केवल धर्म्म के कारण ही दुर्दशाएँ नहीं भोगनी पड़ी हैं। अच्छे अच्छे विद्वानों और आविष्कारकों को सत्य सिद्धान्तों का प्रकाश और विज्ञान का प्रचार करने में भी बहुत कुछ आपत्तियाँ सहनी पड़ी हैं। अर्वाचीन विज्ञान सम्बन्धी प्रायः सभी आविष्कार युरोप में हुए हैं। पर सब आविष्कारकों को आरंभ मे लोग नास्तिक कहते थे। रोम में ब्रूनो नामक एक दार्शनिक अपने मत का प्रकाश करने के अपराध में जीता जला दिया गया था। प्रसिद्ध ज्योतिषी गेलीलिओ का नाम सब लोगों ने सुना होगा। उसने एक दूरबीन बनाकर बहुत से सितारों और ग्रहों का वेध किया था। उसने कई उपग्रहों, शुक्र तथा बृहस्पति सम्बन्धी कई बातों और सूर्य के दागों का पता लगाया था। पर रोम के धर्म्माधिकारियों को उसकी ये बातें पसंद न आईं। इसी कारण वह रोम में बुलाया गया और उस पर अपने सिद्धान्तों को छोड़-

कर उनके विरुद्ध मत प्रकट करने के लिये बहुत दबाव डाला गया। आधुनिक ज्योतिषियों में पहले पहल उसी ने यह पता लगाया था कि सूर्य्य के चारों ओर पृथ्वी ही घूमती है। पर प्रबल धर्म्माधिकारी विरोधियों के कारण उसे यह कहना पड़ा कि मेरा यह मत भ्रमपूर्ण है। धर्म्माधिकारियों ने सर्वसाधारण में उसके ग्रंथों का प्रचार रोक दिया था। अतः उसने कथोपकथन के रूप में एक नई पुस्तक प्रकाशित की जिसमें उसने अपने मत की पुष्टि की थी। इसलिये वह फिर धर्माधिकारियों के सामने बुलाया गया और अपने पूर्व मत का खंडन करने के लिये विवश किया गया। उस समय उसे कुछ साहस दिखलाना चाहिए था, पर उसमें उस साहस का अभाव था। इसके अतिरिक्त उस समय वह बहुत बुड्ढा भी हो गया था, उसकी अवस्था सत्तर वर्ष की हो चुकी थी। बल-प्रयोग से ही वह दबाया जा सकता था, उसकी बातों का उत्तर देकर उसे दबाना संभव नहीं था। उस समय लोगों ने चाहे गेलीलियो को भले ही दबा लिया, पर जिस सत्य का उसने आविष्कार किया था, वह कभी दबाया नहीं जा सकता था। उसके संबंध में एक विद्वान् ने कहा था कि चाहे लोग धर्म्माधिकारियों से उसके विरुद्ध कुछ भी क्यों न कहला लें, पर वे लोग कभी यह प्रमाणित नहीं कर सकते कि पृथ्वी चल नहीं बल्कि स्थिर है। और यदि वह वास्तव में घूमती हो तो समस्त मानव-जाति न तो उसे घूमने से रोक सकती है और

न उसके साथ अपने आप घूमने को। किसी सत्य सिद्धांत को आप भले ही कुछ समय तक किसी प्रकार दबा रखें, पर वह सदा के लिये कभी दबा नहीं रह सकता। एक न एक दिन वह अवश्य प्रकट होगा।

केप्लर का जीवन भी गेलीलियो के जीवन की तरह ही शोचनीय था। उसका जन्म एक बहुत ही दरिद्र घर में हुआ था, पर उसने परिश्रम करके बहुत कुछ विद्या प्राप्त कर ली थी। उसे गणित ज्योतिष से बड़ा प्रेम था और वह उसीका अध्यापक बनाया गया था। उसने गणित ज्योतिष पर कई अच्छे अच्छे ग्रंथ लिखे थे, पर रोम के धर्म्माधिकरियों की ओर से सर्व-साधारण में इसलिये उनका प्रचार रोक दिया गया था कि उनमें बतलाए हुए सिद्धांत उनके प्राचीन धार्मिक विश्वासों के विरुद्ध थे। इसी बीच में उसपर एक और विपत्ति आई। उन्नासी वर्ष की उसकी वृद्धा माता को लोगों ने जादूगरनी कह-कर कैद कर लिया था और निश्चय कर लिया गया था कि वह जलाकर मार डाली जाय। अतः वह अपनी माता को मुक्त कराने के लिये तुरंत अपने नगर स्नेविया पहुँचा। वहाँ उसपर और भी विपत्तियाँ आईं। सन् १६२४ का जो कैलें-डर उसने तैयार किया था, राज्य ने आज्ञा दी कि उसकी सब कापियाँ सर्वसाधारण के सामने जला दी जायँ। जेसुइट पादरियों की आज्ञा से उसकी लाइब्रेरी बंद कर दी गई। वहाँ सब लोग उसके शत्रु हो गए थे, इसलिये उसे अपना

प्रांत छोड़कर पड़ोसी राज्य साइलीशिया में चले जाना पड़ा। वहां पहुँचने के थोड़े ही दिनों बाद, बहुत अधिक अध्ययन करनेके कारण, उसका दिमाग खराब हो गया और वहीं वह मर गया।

कोलंबस का जीवन भी कुछ कम कष्टपूर्ण नहीं था। यदि यह कहा जाय कि उसने नई दुनियाँ तथा नए देशों के आविष्कार में ही अपने प्राण दे दिए तो कुछ अत्युक्ति न होगी। वह एक दरिद्र ऊन धुननेवाले का लड़का था। अपने विचारों की सत्यता सिद्ध करनेके लिये ही उसे जन्म भर झंखना पड़ा था। उसका विश्वास था कि पृथ्वी गोल है, पर लोग समझते थे कि पृथ्वी चिपटी है। लोग समझते थे कि सागर अनंत है, पर उसका मत था कि सागर के उस पार भी कोई महाद्वीप है। वह उस नए महाद्वीप का अविष्कार करना चाहता था और इसी लिये उसे बड़े बड़े सम्राटों और राजाओं के दरबारों में धक्के खाने पड़े। सबसे पहले उसने अपने नगर जेनोआ के लोगों से ही सहायता चाही; पर किसी ने उसकी बात न सुनी। इसके बाद वह पुर्त्तगाल के राजा द्वितीय जान के पास गया; पर वहाँ लोगों ने उसे पागल समझा और उसकी हँसी उड़ाई। इसके अतिरिक्त राजा ने उसके नकशे आदि भी हथिया लिए और एक बेड़ा नए महाद्वीप की खोज में भी भेजा; पर तूफान के कारण चार ही दिन बाद वह बेड़ा लौट आया।

कोलंबस फिर जेनोआ लौट आया और कुछ उद्योग करने के उपरांत वहाँ से निराश होकर वह स्पेन गया। वहाँ के राजा ने बुद्धिमानों और विद्वानों की एक परिषद् में उसे भेज दिया। वहाँ उसे केवल विद्वानों और वैज्ञानिकों को ही अपने विचार नही समझाने पड़े बल्कि उन पादरियों से भी उलझना पड़ा जो यह कहते थे कि कोलंबस की बातें बिलकुल धर्म्म-विरुद्ध हैं। उनका कथन था कि पृथ्वी चिपटी है और यदि समुद्र के उस पार कोई नई दुनिया निकल आवे तो आदमी आदम से पैदा नहीं। लोगों ने उसे मूर्ख बनाकर वहाँ से भी चलता किया।

तदुपरांत उसने इंगलैंड और फ्रांस के महाराजाओं के पास प्रार्थनापत्र भेजे, पर उनका भी कोई फल नहीं हुआ। अंत में सन् १४९२ में वह स्पेन की रानी इसाबेला के सम्मुख उपस्थित किया गया। उसके मित्रों और साथियों ने उसके मत की इतनी उत्तमता से पुष्टि की कि रानी ने उसकी प्रार्थना स्वीकार करने और उसे सहायता देने का वचन दे दिया। तीन छोटे छोटे बजरे उसे मिले जिनमें से केवल एक छतदार था। उन्ही को लेकर ३ अगस्त सन् १४९३ को कोलंबस वहाँ से रवाना हुआ। सर्वसाधारण के मिथ्या विश्वासों से तो वह किसी प्रकार पार पा गया था; पर अब उसे निरक्षर मल्लाहों से काम पड़ा था। उन लोगों के साथ उसे बहुत कुछ माथा-पच्ची करनी पड़ी। अनंत और अज्ञात

महासागर में पड़नेवाली विपत्तियों, भूखों मरने की आशंका और निरंतर पृथ्वी के दर्शन न होने के कारण होनेवाली निराशा से मल्लाह बहुत घबरा जाते थे और कोलंबस से लड़ने झगड़ने बल्कि कभी कभी उसे उठाकर समुद्र में फेंक देने तक के लिये तैयार हो जाते थे। उन लोगों को शांत करने में कोलंबस को बड़ी ही कठिनता होती थी। लगातार सत्तर दिनों तक चलते चलते अंत में पृथ्वी मिली और सैन सालवेडर द्वीप में कोलंबस उतरा। इसके बाद उसने क्यूबा और हिस्पानिओला द्वीप का पता लगाया। स्पेन के महाराज और महारानी के नाम से उसपर अधिकार किया गया। हिस्पानिओला में एक छोटा सा किला बनाकर और वहाँ कुछ आदमी छोड़कर अपनी सफलता का समाचार सुनाने के लिये कोलंबस स्पेन लौटा।

वहाँ लोगों ने बड़े उत्साह से उसका स्वागत किया। केवल स्पेन में ही नहीं बल्कि सारे संसार में उसकी खूब वाहवाही हुई। उसने फिर अमेरिका के लिये प्रस्थान किया। इस बार उसके साथ सत्रह बड़ी बड़ी नावें थीं जिन पर बारह सौ आदमी थे। इस बार उसके साथ बहुत से अमीर और रईस भी थे जो सोने की तलाश में वहाँ गए थे। पर वहाँ उन्हें सोना नहीं मिला, इसलिये वे लोग कोलंबस से बहुत असंतुष्ट हुए। उन्होंने समझा कि इसने व्यर्थ ही हम लोगों को इतना कष्ट दिया। दूसरी बार जब कोलंबस स्पेन

लौटा तब उसका उतना आदर नहीं हुआ। वहाँ के दरबारी मन ही मन उससे कुछ बुरा मानने लगे थे। तीसरी बार कोलंबस के साथ छः बड़े जहाज अमेरिका भेजे गए। इस बार खास अमेरिका का पता लगा। उधर सैन सैलवेडर में कोलंबस जिन स्पेनियों को छोड़ गया था, वे वहाँ के आदिम निवासियों से लड़ गए। इसलिये कोलंबस ने दुःखी होकर स्पेन के महाराज को लिख भेजा कि यहाँ के लिये एक मजिस्ट्रेट और एक जज भेज दीजिए।

कुछ ईर्ष्यालु दरबारियों की सम्मति से महाराज ने बोबैः विलो नामक एक व्यक्ति को नई दुनिया का गवर्नर बनाकर और सब प्रकार के पूर्ण अधिकार देकर भेज दिया। उसने वहाँ पहुँचते ही सबसे पहले कोलंबस और उसके दोनों भाइयों को कैद करके स्पेन भेज दिया। रास्ते में प्रधान अधिकारी ने उससे कहा कि यदि तुम चाहो तो हम तुम्हारी हथकड़ियाँ और बेड़ियाँ खोल दें। इस पर उसने उत्तर दिया—"नहीं। मैंने जो कुछ सेवाएँ की है, उनके बदले में मैं इन्हीं को स्मृति स्वरूप रखूँगा।" उसने अपने लड़के से कह दिया था कि ये हथकड़ियाँ और बेड़ियाँ मेरे साथ कब्र में गाड़ दी जायँ!

उसके स्पेन पहुँचने पर महाराज और महारानी ने उसे छोड़ दिया। यद्यपि वह अपने देशवासियों के व्यवहार से बहुत ही दुःखी हो गया था, पर तौ भी स्पेन को धनवान् बनाने के विचार से उसने चौथी बार फिर यात्रा की और कई ऐसे

देशों का आविष्कार किया जहाँ सोने की खानें थीं। अनेक कठिनाइयाँ झेलकर वह फिर स्पेन लौटा। अब वह बहुत बुड्ढा हो गया था। वह चाहता था कि मुझे कम से कम इतना पुरस्कार मिल जाय जिससे मैं साधारणतः अपना जीवन व्यतीत कर सकूं। पर किसी ने उसकी बात न सुनी। जिसने इतने बड़े बड़े आविष्कार किए थे, उसे किसी ने कुछ भी न दिया। उसने कई महीने बड़ी ही दरिद्रावस्था में काट-कर प्राण त्यागे। अंत समय में उसकी दशा प्रायः भिखमंगों की सी हो गई थी। कोठरी का किराया चुकाने के लिये उसका कोट बिक गया! बहुत दुर्दशा भोगने के उपरांत २० मई सन् १५०६ को उसका शरीरांत हो गया। चाहे लोगों ने उसकी कदर न भी की हो, पर इसमें संदेह नहीं कि वह बहादुर आदमी था। उसने अच्छी तरह परिश्रम करके काम किया था और उसी में अपने प्राण दिए थे। उसका नाम सदा अमर रहेगा।

बहुत से लोग बड़े बड़े कामों के पीछे अपने प्राण दे देते हैं। वे किसी प्रकार के पुरस्कार या सन्मान की आशा नहीं रखते। उनके मार्ग में अनेक कठिनाइयाँ पड़ती हैं, लोग उनकी हँसी उड़ाते और उन्हें निरुत्साह करते हैं, पर उनका उत्साह कभी भंग नहीं होता। मानव-जाति के कल्याण का उच्च विचार सदा उनका रक्षक और मार्ग-दर्शक होता है।

अपने जीवन में तो वे लोग काम करते ही हैं, उस काम के लिये उनका मरना और भी अधिक काम कर जाता है।

आचरण और बल की वृद्धि के लिये कठिनाइयाँ और विपत्तियाँ बहुत ही आवश्यक हैं। सफलता की अपेक्षा बहुधा अध्यवसाय का महत्व ही अधिक हुआ करता है। अध्यवसाय में मनुष्य को कठिनाइयाँ और विपत्तियाँ सहनी पड़ती हैं और तब भी उसकी आशा बराबर बनी रहती है। वह प्रसन्न-वदन होकर कठिनाइयों का सामना करता है और भारी से भारी बोझ के नीचे भी सीधा खड़ा रहता है। कठिनाइयों और विपत्तियों में एक ऐसा अच्छा गुण है कि वे मनुष्य को वीर और वास्तविक मनुष्य बना देती हैं। मिलटन कहा करता था—"जो सब से अधिक कठिनाइयाँ सह सकता है, वही सब से अधिक काम कर सकता है।"

यह समझना बड़ी भारी भूल है कि कभी ऐसा समय भी आता है जब कि वीरोचित गुण की आवश्यकता नहीं होती; अथवा इसकी आवश्यकता केवल उसी समय होती है जब कि अत्याचारियों के विरोध के लिये अथवा ऐसे ही किसी और कार्य्य के लिये अपने प्राण तक देने पड़ें। नहीं, जिस समय मनुष्य अपने कर्त्तव्य और उद्देश भूलकर आमोद-प्रमोद में लगे हों, उस समय भी वास्तविक वीरता की उतनी ही आवश्यकता होती है जितनी किसी अत्याचारी का सामना या हत्यारे के खड्ग का मुकाबिला करने के समय

होती है। यहाँ तक कि युद्ध में भी अध्यवसाय और सहनशीलता की उतनी ही आवश्यकता होती है जितनी साहस की। और आजकल जब कि युद्ध बहुत वैज्ञानिक हो गया है, इन दोनों बातों की और भी आवश्यकता बढ़ गई है। सिपाही को उस स्थान पर दृढ़तापूर्वक खड़े रहना चाहिए जहाँ उसकी नियुक्ति हुई हो। जिस समय उसके चारों ओर गोलों और गोलियों की वर्षा हो, उस समय भी उसे अपने स्थान से न हटना चाहिए। जब तक उसे आज्ञा न मिले तब तक उसे विपक्ष पर गोली भी न चलानी चाहिए! इसके बाद आक्रमण की आवश्यकता होगी। केवल आक्रमण में ही अध्यवसाय और सहनशीलता की आवश्यकता नहीं होती, बल्कि परास्त होकर पीछे हटने में भी उनकी आवश्यकता होती है। यदि परास्त होकर पीछे हटने के समय भी इन्हीं गुणों का पूरा पूरा परिचय दिया जाय तो उस पराजय का भी उतना ही महत्व समझा जायगा जितना विजय का।

जब जेरेक्सीज ने यूनान पर आक्रमण किया, तब उसकी विशाल सेना को रोकने के लिये केवल तीन सौ बहादुर सिपाहियों के साथ लियानीडास भेजा गया था। थरमापली की घाटी में बड़ा भीषण युद्ध हुआ और आक्रमणकारियों के बहुत से आदमी मारे गए। लियानीडास और उसके सब साथी भी खेत रहे, पर यूनान की शत्रुओं से रक्षा हो ही गई। इसी प्रकार जहा पर बीस हजार सीरियनों ने आक्रमण किया

था। अपने पुण्यक्षेत्र की रक्षा करने के लिये मेकेबियस नामक एक वीर ने केवल आठ सौ आदमियों को साथ लेकर उनका मुकाबिला किया। उसके सारे बहादुर सिपाही युद्ध में लड़कर मरे; उनमें से एक ने भी शत्रुओं को पीठ नहीं दिखाई। उनका मरना व्यर्थ नही हुआ। आक्रमणकारी परास्त हुए और देश बच गया।

हमारे भारत का इतिहास भी ऐसे ऐसे वीरों की कथाओं से भरा पड़ा है। प्रसिद्ध इतिहास-लेखक टाड साहब ने लिखा है कि राजपूताने में कदाचित् ही कोई ऐसी घाटी हो जो थरमापली की बराबरी न कर सकती हो और जहाँ लियानीडास सरीखे वीरों ने भीषण युद्ध न किए हों। हमारे यहाँ केवल वीर योद्धाओं ने ही नहीं वरन् अल्पवयस्क बालकों और कोमलांगी ललनाओं तक ने अपना कर्तव्य समझकर बड़े विकट प्रसंगों पर भारी भारी सेनाओं का संचालन करके शत्रुओं के दाँत खट्टे कर दिए हैं। रानी विदुला और उसके पुत्र संजय के एक ही वर्णन से इस अंतिम कथन की अच्छी तरह पुष्टि हो सकती है। प्राचीन काल में सिंध के पास सौवीर नामक एक राज्य था। वहाँ के राजा के मर जाने के उपरांत विधवा रानी विदुला और उसका छोटा पुत्र संजय रह गया। दुर्भाग्य से संजय भोग विलास में फँस गया और राज्य में अनेक प्रकार के उपद्रव होने लगे। सौवीर राज्य पर बहुत दिनों से सिंधवालों की निगाह थी। यह अवसर उपयुक्त समझकर

उन्होंने एक विशाल सेना लेकर सौवीर पर चढ़ाई कर दी। विदुला ने यह समाचार सुनकर अपने पुत्र को क्षत्रियोचित कर्त्तव्य करने का उपदेश दिया और उसे उत्तेजित करके अपने देश की रक्षा करने के लिये सिंधवालों से लड़ने भेजा। संजय युद्ध-क्षेत्र में जाकर एक बार तो बहुत अच्छी तरह लड़ा; पर एक तो उसकी अवस्था ही अभी कम थी और दूसरे वह कुछ विलास-प्रिय भी था, इसलिये भीषण युद्ध के हृदयविदारक दृश्य वह न देख सका और खेत छोड़कर भाग निकला। उसके पीछे उसकी सेना भी भागी और सौवीर देश लूटने के लिये शत्रु आगे बढ़ने लगे।

घर लौटने पर संजय को विदुला ने बहुत धिक्कारा और फिर उसे उसका कर्त्तव्य सुझाया। सब ऊँच-नीच और हानि-लाभ समझाकर उसने अपने पुत्र को फिर उत्साहित और उत्तेजित किया। इस पर संजय ने माता को अपने शरीर के घाव दिखाए; पर उन घावों तथा उसकी बातों का विदुला पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। वह समझती थी कि पुत्र-स्नेह प्रबल तो है, पर वह कर्त्तव्य-पालन से बढ़कर नहीं है। उसे अपने वंश की मान-मर्य्यादा और देश की रक्षा का पूरा पूरा ध्यान था। इसलिये वह अपने पुत्र को कर्त्तव्य-पथ से डिगा हुआ नहीं देखना चाहती थी। उसने संजय की बातों पर ध्यान न देकर उसे फिर प्रचंड समर क्षेत्र में अपने प्राणों की आहुति देने की आज्ञा दी। अपनी माता के

उपदेश और दृढ़तापूर्ण वचन सुनकर इस बार संजय में वास्तविक बल और साहस का संचार हो आया। उसने माता के चरण छूकर प्रण किया कि अब मैं या तो शत्रुओं को परास्त ही करके छोड़ूँगा या रण-क्षेत्र में अपने प्राण ही दे दूँगा। सेना लेकर संजय ने उस स्थान पर पहुँचकर सिंधवालों पर फिर चढ़ाई की जहाँ वे सौवीर की प्रजा को लूट पाट रहे थे। वहाँ जाकर उसने ऐसी वीरता से युद्ध किया और ऐसा पराक्रम दिखलाया कि तुरंत ही सिंध-वालों के पैर उखड़ गए और संजय विजयी हुआ।

पटियाले की रानी साहब कुँवर का साहस, अध्यवसाय और वीरता भी परम सराहनीय है। पटियाले के राजा उसके भाई साहबसिंह में राज्य परिचालन की योग्यता नहीं थी, इसलिये साहब कुँवर ही रियासत का प्रबंध करती थी। एक बार उसके पति सरदार जयमलसिंह को उसके चचेरे भाई फतहसिंह ने कैद कर लिया और उसके सारे इलाके पर अपना अधिकार कर लिया। साहब कुँवर ने यह समाचार सुनकर फतहसिंह पर चढ़ाई की और अपना इलाका उससे छीन लिया।

एक दूसरे अवसर पर साहब कुँवर ने अपनी वीरता का और भी अच्छा परिचय दिया था। सन् १७९४ में मराठों ने पटियाले पर आक्रमण किया। रानी ने तुरंत उनके मुकाबले के लिये सात हजार सिक्ख भेजे। अंबाले के समीप

मल्हारपुर नामक स्थान पर युद्ध हुआ। मराठे युद्ध-विद्या में बहुत निपुण थे और उनकी संख्या भी बहुत अधिक थी, इसलिए सिक्खों के पैर उखड़ने लगे। उस विकट अवसर पर साहब कुँवर स्वयं तलवार लेकर युद्ध-क्षेत्र में जा पहुँचीं। उसने भागते हुए सरदारों को उत्साहित कर के फिर युद्ध में प्रवृत्त किया। घोर युद्ध होने लगा। शत्रु की सेना संख्या में बहुत अधिक थी, इससे सिक्ख संख्या में जल्दी जल्दी छीजने लगे। पर तो भी बचे हुए थोड़े से लोगों को लेकर ही साहब कुँवर लड़ती रही। उनमें से एक को भी उसने भागने न दिया। जब उसके पास आदमी कम रह गए तो कुछ लोगों ने उसे सम्मति दी कि पटियाले चल कर पहले और आदमियों का प्रबंध करना और तब लड़ना चाहिए। पर रानी ने उनकी बात नहीं मानी और रात के समय शत्रु पर प्रबल आक्रमण करके उन्हें विकल कर दिया। सवेरा होते होते मराठे खेत छोड़कर भाग गए थे।

जब शिवाजी के हाथ से अफजल खां मारा गया, तब उसके पुत्र अब्दुल फजल ने उससे अपने पिता का बदला लेने के लिये बड़ी भारी सेना लेकर पन्हालगढ़ का किला घेर लिया। उसकी सहायता के लिये सिद्दी जौहर भी अपनी विशाल सेना लेकर वहां पहुँच गया। किला चारों ओर से घेर लिया गया, पर युद्ध न आरंभ हुआ। मुसलमानों ने सोचा था कि केवल घेरा डालकर पड़े रहने से ही सब काम

बन जायगा; मराठे अधिक समय तक किले में न रह सकेंगे और अंत में उन्हे विवश होकर हमारी शरण में आना पड़ेगा। शिवाजी भी उनका अभिप्राय समझ गए और एक दिन अँधेरी रात में जिस समय मुसलमान योद्धा अपनी अपनी छावनियों में मस्त पड़े हुए थे, वे अपने साथियों को लेकर किले से बाहर निकल पड़े और शत्रुओं को मारते काटते तथा उनकी चौकियों में आग लगाते हुए रांगणदुर्ग की ओर चल पड़े। उस समय शिवाजी के साथ केवल तीन सौ योद्धा थे, पर शत्रु-सेना की कोई गिनती ही नही थी। शत्रुओं ने सचेत होकर मराठों का पीछा किया। मराठे रांगणादुर्ग की ओर बढ़ते भी जाते थे और युद्ध भी करते जाते थे। चलते चलते वे लोग पावन घाटी मे पहुँचे। वह घाटी शत्रुओं को रोक रखने के लिये अधिक सुरक्षित और उपयुक्त थी। वहाँ पहुँचकर एक वीर सरदार बाजीप्रभु ने देखा कि अब यदि शिवाजी यहाँ से न हट जायँगे तो कुशल नहीं। इसलिये उसने बहुत ही दीनतापूर्वक उनसे रांगणा चले जाने की प्रार्थना की और कहा कि यदि इस समय आप न चले जायँगे तो महाराष्ट्र देश अनाथ हो जायगा, उसकी रक्षा करनेवाला कोई न रह जायगा। शिवाजी ने पहले तो उसकी बात न मानी, पर जब उसने तथा दूसरे सरदारों ने बहुत हठ किया और शिवाजी ने भी उनका कथन उचित समझा, तब वे अपने वीरों को उसी घाटी मे छोड़कर रांगणा दुर्ग की ओर चल पड़े। पीछे

बाजीप्रभु ने उन्हीं थोड़े से आदमियों को लेकर उस घाटी में दिन भर शत्रु की विशाल सेना को रोक रक्खा। लाख सिर पटकने पर भी मुसलमान घाटी पार न कर सके. शिवाजी को जा पकड़ना तो दूर रहा। संध्या समय जब रांगना दुर्ग से तोप छूटने का शब्द सुनाई पड़ा तब बाजीप्रभु ने समझ लिया कि महाराज रांगना पहुँच गए। शिवाजी के तीन सौ वीरों ने उसी घाटी में अपने प्राण दे दिए, पर अपने स्वामी का बाल बाँका न होने दिया।

मुर्शिदाबाद की गद्दी पर बैठते ही अविवेकी और विलासी नवाब सिराजुद्दौला की विलासिता और पापेच्छा सौगुनी हो गई। वह दिन रात शराब में चूर रहता और वेश्याओं के जमघट में बैठकर तरह तरह के निंदनीय कर्मों की चिंता करता। उसके दरबारी नाटौर की राज-महिषी रानी भवानी से बहुत चिढ़े हुए थे; अतः उन्होंने बदला लेने का यह बहुत अच्छा अवसर समझा। उन लोगों ने नवाब से भवानी की विधवा कन्या तारा के रूप की बहुत प्रशंसा की और तुरंत ही तारा को पकड़ लाने के लिये मुरशिदाबाद से एक दूत नाटौर गया। रानी भवानी ने पहले तो उसकी खूब दुर्दशा की और तदुपरांत नवाब से लड़ने के लिये अपनी सेना तैयार की। दूत की दुर्दशा का समाचार सुनते ही नवाब ने रानी भवानी की जमींदारी लूटने के लिये विशाल सेना भेजी। रानी भवानी उसका सामना करने के लिये

अपनी सेना लेकर स्वयं रणक्षेत्र में पहुँची। नवाब की सेना के लोग भी प्रायः अकर्म्मण्य और विलासी ही थे। रानी की सेना की मार वे न सह सके और तुरंत भाग निकले। रानी भवानी ने अपने राज्य की सीमा तक उस भागती हुई सेना का पीछा किया और उसे अपने राज्य से निकाल कर छोड़ा।

इसी प्रकार इस देश के छोटे छोटे राज्यों और सरदारों के भी सैकड़ों ऐसे उदाहरण दिए जा सकते हैं जिनमे बहुत ही थोड़े से आदमियों ने न्याय और सत्य का पक्ष लेकर और अपना कर्तव्य अच्छी तरह समझकर बड़े बड़े शत्रुओं को सहज में परास्त कर दिया। अपनी और अपने देश की स्वतंत्रता की रक्षा के लिये लोगों ने केवल बड़ी बड़ी कठिनाइयाँ ही नही सही हैं बल्कि अपने प्राणों तक का उत्सर्ग कर दिया है। देश या जाति के छोटे या बड़े होने से कुछ नहीं होता, उसका वास्तविक बल मनुष्य का आचरण ही है। बहुत से लोग ऐसे है जो बराबर "स्वतंत्रता स्वतंत्रता" चिल्लाते रहते हे, पर वास्तव मे बड़े ही अकर्म्मण्य, आलसी और अयोग्य होते हैं। वे स्वयं स्वतंत्रता के पात्र तो होते नही, केवल लोगों की देखा देखी ही स्वयं भी स्वतंत्र होना चाहते हैं। वे जगह जगह थोथी देशहितैषिता का राग अलापते फिरते है जो भेड़ियों या सिआरों की चिल्लाहट से बढ़कर नही होता। वास्तविक देशहित और ही चीज है। उसके लिये

साहस, अध्यवसाय, सहनशीलता, न्याय-परायणता, सत्यता, सुजनता, परोपकार, आत्म-त्याग और स्वतंत्रता के प्रति सच्चे तथा सात्विक प्रेम की आवश्यकता होती है। यही सब बातें मनुष्य को उसका कर्तव्य बतलाती हैं, उसके पालन के लिये उससे यत्न कराती हैं, मार्ग में पड़नेवाली कठिनाइयाँ सहने में उसे समर्थ करती हैं और अंत मे उसे सफलता के शिखर तक पहुँचाकर छोड़ती हैं।

पाँचवाँ प्रकरण

नाविक

जहाज लेकर समुद्र में जानेवाले नाविक भी बड़े ही वीर और साहसी हुआ करते हैं। समुद्र-यात्रा में पड़नेवाले विकट प्रसंगों से मनुष्य में बहुत साहस आता है। केवल साहस ही नहीं बल्कि उसे कर्त्तव्य का भी बहुत अच्छा ज्ञान हो जाता है। जहाजियों को सदा धीर, कर्त्तव्य-परायण और चौकन्ने रहना पड़ता है। स्थल पर रहनेवाले लोग तो दिन भर अपना काम करके रात को निर्भय और निश्‍चिंत होकर सो रहते हैं, पर समुद्र में रहनेवालों को वह निर्भयता और निश्‍चिंतता नहीं होती।

नाविक को दिन और रात निरंतर चौकन्ना रहना पड़ता है। जिस समय तेज हवा न चलती हो और समुद्र शांत हो, उस समय तो नाविक भले ही अपने स्थान पर आनंद से बैठा रह सकता है; पर जिस समय तूफान आता है, उस समय उसे कमर कसकर काम में लग जाना पड़ता है। उसे मस्तूल पर चढ़कर पाल उतारनी पड़ती है। आधी रात का समय है, चारों ओर घोर अंधकार छाया हुआ है; इतने में भारी तूफान आता है। नाविक अकेला मस्तूल पर चढ़कर

माल उतारने लगता है। हवा के झोंके या भारी लहर की टक्कर से एक ओर जहाज़ हिलता है। नाविक का हाथ या पैर फिसल जाता है और वह समुद्र में जा पड़ता है। उसके गिरने का जल्दी किसी को पता भी नहीं लगता। जहाज पहले की तरह ही बराबर चला जाता है। जहाजी का काम भी कैसे खतरे का है!

जिस समय पहले पहल मनुष्य छोटी सी खुली हुई नाव लेकर समुद्र में गया होगा, उस समय उस नई स्थिति को देखकर वह कैसा घबराया होगा। उस समय उसके ऊपर आकाश और नीचे समुद्र के अतिरिक्त और क्या था! उसके और मृत्यु के मध्य में केवल एक तख्ते के अतिरिक्त और क्या था! पहले पहल समुद्र-यात्रा करनेवाले को कितना साहस करना पड़ा होगा! स्थल पर रहनेवाले को भी समुद्र से बहुत शिक्षा मिलती है। डाक्टर आर्नल्ड कहते हैं कि किसी बुद्धिमान बालक की बुद्धि का जितना अच्छा विकास पहले पहल समुद्र के दर्शन करने से होता है उतना अच्छा विकास और किसी तरह से नहीं होता।

किसी पहाड़ी पर चढ़कर देखिए तो आपको अपने सामने अनंत जल राशि दिखाई देगी। सामने, दाहिने और बाएं आपको जल के अतिरिक्त और कुछ भी दिखाई न देगा। जिस समय मौसिम अच्छा होगा, उस समय तो लहरें धीरे धीरे आकर आपके चरण छूएंगी। पर जिस समय तूफान

आवेगा, उस समय उसकी लहरों के थपेड़े से बड़े बड़े करारे कटकर गिरने लगेंगे। कभी तो समुद्र बहुत ही शांत और गंभीर रहेगा और कभी बहुत अधिक क्षुब्ध और भीषण हो जायगा। उसे कुछ भी स्मरण नहीं रहता। वह अपनी लहरों से किसी चट्टान के साथ जहाज को टकराकर टुकड़े टुकड़े कर डालेगा और तब फिर पहले की तरह शांत हो जायगा; अथवा उसी जहाज के टूटे हुए टुकड़ों से अठखेलियाँ करने लगेगा। कभी कभी वह इतना शांत और निश्चल हो जायगा कि देखनेवाले समझेंगे कि वह अपने पूर्व अनुचित कृत्यों के लिए दुःखी होकर पश्चात्ताप कर रहा है।

लेकिन मानव--जाति की उन्नति के साथ समुद्र का बड़ा ही घनिष्ट संबंध है। आजकल संसार की सभी बड़ी बड़ी शक्तियों मे ग्रेट ब्रिटेन क्यों प्रधान है? इसलिये कि समुद्रों पर उसीका अधिकार है और बहुत बड़ा समुद्री व्यापार उसीके हाथ मे है। इंगलेंड की सारी वर्तमान महत्ता केवल समुद्र के कारण ही है। वह स्वयं चारों ओर समुद्र से घिरा हुआ और रक्षित है और उसका सारा कारबार समुद्र से ही होता है। समुद्र के मार्ग से ही वहाँ कच्चा माल और भोजन पहुँचता है और समुद्र के द्वारा ही वह अपना पक्का माल दूसरे देशों को भेजता है।

जिस समय हमारे भारतवर्ष के हाथ मे संसार का सारा समुद्री व्यापार था, उस समय हमारा देश भी सर्वप्रधान था।

जिस समय हमारे देश में अच्छे अच्छे नाविक हुआ करते थे, उस समय हमारे देश का व्यापार खूब चढ़ा बढ़ा था। यह बात अनेक प्रमाणों से सिद्ध हो चुकी है कि प्रायः तीन हजार वर्ष तक समुद्री व्यापार में भारतवर्ष ही प्रमुख रहा। बहुत प्राचीन काल में यहूदियों, यूनानियों, मिस्रियों और रोमनों के साथ तथा अर्वाचीन काल में तुर्कों, पुर्तगालियों, डचों और अँगरेजों के साथ भारत का घनिष्ट व्यापारिक संबंध था। भारतवर्ष स्वयं ही बहुत उपजाऊ देश था और यहाँ सब प्रकार की चीजें होती थीं। इसके अतिरिक्त यहाँ के निवासी बहुत परिश्रमी होते थे और उनका जीवन बहुत सादा होता था। अतः वे स्वयं तो बहुत सी चीजें तैयार करके दूसरे देशों में बेच आते थे, पर दूसरे देशों से बहुत ही कम चीजें खरीदने की उन्हें आवश्यकता हुआ करती थी। सिकंदर के समय में और उससे भी बहुत पहले भारत से ऊन, तरह तरह के बहु-मूल्य रत्न, हींग, कस्तूरी आदि बहुत से पदार्थ युरोप जाते थे। भारत की बनी हुई कालीनों का बैबिलोन और रोम में बहुत आदर होता था; और यहाँ का बना हुआ रेशमी कपड़ा तो फारसवालों को इतना अधिक पसंद था कि लोग उसे सोने से तौलकर खरीदते और बेचते थे। उन दिनों यहां की सूती मलमलें आदि भी बहुत ही बढ़िया होती थीं। भारत के बने हुए तेलों, पीतल के बरतनों, चीनी, नमक, ओषधियों, रंगों और मिर्च मसालों आदि की सारे युरोप में सदा बहुत ही

माँग रहा करती थी। तात्पर्य यह कि जिस समय भारतवासी समुद्र-यात्रा को पातक नहीं समझते थे और उनमें अच्छे अच्छे नाविक उत्पन्न हुआ करते थे, उन दिनों संसार के व्यापार का अधिकांश उन्हींके हाथमें था। यहाँ के व्यापारी तरह तरह की चीजें लादकर विदेश ले जाते थे और वहाँ से चाँदी सोना भरकर लौटते थे। प्लीनी ने अपनी नेचुरल हिस्ट्री नामक पुस्तक में लिखा है कि ईसवी पहली शताब्दी में भारत से प्रतिवर्ष प्रायः साढ़े दस लाख रुपए मूल्य के केवल सुगंधित द्रव्य और आभूषण आदि ही रोमन साम्राज्य में जाते थे। डा० सेसी (Dr. Sayce) का मत है कि ईसा से प्रायः तीन हजार वर्ष पहले भारतवासी बहुत सी चीजें समुद्र मार्ग से बैबिलोन ले जाकर बेचा करते थे। बौद्धों के अनेक जातकों में बहुत से वणिकों की कथाएँ भरी पड़ी हैं जो भारत से माल लेकर बैबिलोन, फारस, मिस्र और यूनान आदि देशों में बेचने के लिये जाया करते थे। एक एक जहाज में तीन तीन और चार सौ व्यापारी हुआ करते थे। भारत की प्राचीन संपन्नता के आजकल जो गीत गाए जाते हैं, वे उसी समय से संबंध रखते हैं जब कि भारतवासी सदा व्यापार और समुद्र-यात्रा ही किया करते थे। और जब से उनके हाथ से व्यापार छूटा और वे लोग समुद्र-यात्रा को पाप समझने लगे, तभी से यह दरिद्रता का रोना भी आरंभ हुआ है।

उत्तर भारत की अपेक्षा दक्षिण भारत में बहुत अच्छे

और अधिक नाविक हुआ करते थे। बात यह है कि समुद्र तट पर बसनेवाली जातियां में ही अच्छे और अधिक नाविक हो सकते हैं, समुद्र से दूर बसनेवाली जातियां में नहीं। दूसरी और तीसरी शताब्दी के अंध्र-वंश के जो सिक्के मिले हैं, उनमें से अनेक पर जहाजों की आकृति भी अंकित है जिससे सिद्ध होता है कि तत्कालीन राजाओं का राज्य केवल स्थल पर ही नहीं बल्कि समुद्र पर भी था। उनकी अधिकांश आय प्रायः समुद्री व्यापार से ही होती थी और कदाचित् इसी लिये वे अपने सिक्कों पर जहाजों के चिह्न भी अंकित करते थे। केवल समुद्र-यात्रा करके ही प्राचीन भारत-वासी धन उपार्जित नहीं करते थे, बल्कि समुद्र में से मोती आदि निकालने में भी वे बहुत पटु हुआ करते थे। किसी समय लंका, फारस और अरब के तट से केवल भारतवासी ही मोती निकाला करते थे, अन्य जातियों को उन स्थानों से मोती निकालने का अधिकार नहीं था। तात्पर्य्य यह कि भारत को संपन्न बनाने में समुद्र ही अनेक प्रकार से सहायक हुआ था।

उन्नति के इतने अधिक साधन प्राप्त करके आजकल की पाश्चात्य जातियाँ अपने उपनिवेशों और उनके स्थापन पर मारे अभिमान के फूली नहीं समातीं। पर भारतवासियों ने प्रायः दो हजार वर्ष पहले अनेक द्वीपों में पहुँचकर उपनि-वेश स्थापित किए थे। कहा जाता है कि सन् ७५ ई० में

कलिंग देश से बहुत से हिंदू अपने जहाज लेकर बंगाल की खाड़ी से होते हुए जावा द्वीप में पहुँचे थे। वहाँ उन लोगों ने अनेक नगर स्थापित किए थे। वहाँ के आदिम निवासियों को उन्होंने सभ्यता सिखलाई थी और उन्हें धार्मिक तथा नैतिक शिक्षा दी थी। जावा के साथ भारत का व्यापार-संबंध बहुत दिनों तक बना रहा। इसी प्रकार सुमात्रा और बोर्नियो तथा उसके आस पास के अनेक द्वीपों में भी भारतवासियों ने उपनिवेश स्थापित किए थे। तीसरी और चौथी शताब्दी में बहुत से भारतवासी कंबोडिया में भी जाकर बसे थे। सन् ६०३ में गुजरात का एक राजा छः बड़े और एक सौ छोटे जहाज़ लेकर जावा गया था। उन जहाज़ों में उसके परिवार के लोगों और दरबारियों के अतिरिक्त बहुत से कृषक, योद्धा और कारीगर आदि भी थे। तभी से जावा के साथ गुजरात का भी घनिष्ट व्यापार-संबंध स्थापित हो गया।

प्राचीन भारत को महत्ता केवल समुद्री व्यापार और उपनिवेश-स्थापन से ही नहीं थी बल्कि उसके बल और सामर्थ्य के कारण भी थी। प्राचीन भारतीय जहाजों पर चढ़कर समुद्रीय युद्ध करना भी जानते थे। महाराज चन्द्रगुप्त [सन् ३२१ ई० पू० से २९७ ई० पूर्व] के समय में छः बड़े बड़े युद्ध-विभागों के अंतर्गत एक जल-सेना विभाग भी था जिसके प्रबंध के लिये पाँच सदस्यों का एक मंत्रि-मंडल

भी था जिसकी तुलना आजकल के एड्मिरैलटी बोर्ड (Board of Admiralty) के साथ की जा सकती है। इसका वर्णन केवल मेगास्थनीज ने ही नहीं किया है बल्कि कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र में भी इसका पूरा पूरा विवरण है। जल-सेना विभाग का प्रबंध भी बहुत ही उत्तम था। उसका प्रधान नवाध्यक्ष कहलाता था। नदी और समुद्र की समस्त नावों के प्रबंध आदि का पूरा पूरा भार उसी पर रहता था। यदि दूसरे देशों के जहाज़ तूफान आदि के कारण टूट फूटकर भारतीय तट पर पहुँच जाते तो उन्हें रहने के लिये स्थान देना और यथासाध्य उनकी सहायता करना उसका प्रधान कर्त्तव्य होता था। दूर दूर के देशों के साथ चंद्रगुप्त का वनिष्ट संबंध था, इसलिये उसे इस प्रकार के जल-विभाग की आवश्यकता हुई थी। अशोक के समय विदेशों से यह संबंध और भी अधिक बढ़ गया था, अतः उसके राजत्वकाल में इस विभाग का और अधिक विस्तार होना बहुत ही स्वाभाविक था। पाटलिपुत्र मे अशोक के दरबार मे एक बार कुछ व्यापारियों ने आकर शिकायत की थी कि महाराज ! समुद्र में नाग (संभवतः चीनी) लोगों ने हमारा सर्वस्व हरण कर लिया है, अतः आप हमारी रक्षा का प्रबंध करें। इस पर अशोक ने प्रयत्न करके उन लोगों का माल वापस दिलवा दिया था। महावंश में लिखा है कि (ईसा से प्रायः ५५० वर्ष पूर्व) वंगदेश के विजय नामक एक राजा ने जल-

युद्ध करके लंका पर विजय प्राप्त की थी और उस द्वीप का नाम सिंहल रखा था। उसी ग्रंथ में यह भी लिखा हुआ है कि पीछे से वहाँवालों ने अपने देश की रक्षा के लिये एक बहुत बड़ा जंगी बेड़ा तैयार किया था। बंगाल के चोलवंशी राजाओं की जल-शक्ति किसी समय बहुत चढ़ी बढ़ी थी और उन्होंने अनेक द्वीपों पर आक्रमण करके उनपर अधिकार किया था। चौथी, पाँचवी और छठी शताब्दी में गुजरात आदि देशों से बहुत से लुटेरे और समुद्री डाकू फारस और अरब में जाकर लूटमार किया करते थे और संभवतः इसी का बदला लेने के लिये पहले पहल अरब-वासी भी समुद्र-मार्ग से भारत पर आक्रमण करने के लिये आए थे। ग्यारहवीं शताब्दी में जब सुलतान महमूद गजनवी सत्रहवीं बार भारत में आया था, तब जाटों के साथ उसका घोर जल-युद्ध हुआ था। महमूद ने मुलतान में ही चौदह सौ नावें उसी लड़ाई के लिये बनवाई थी। जाटों ने मुसलमानों के मुकाबले के लिये चार हज़ार नावें तैयार कर रखी थीं। यद्यपि इस युद्ध में जाट हार गए थे, पर इसमें संदेह नही कि उस समय भी भारत में जल-युद्ध जानने-वाले बहुत से लोग मौजूद थे। तेरहवीं शताब्दी में गयास-उद्दीन बलबन ने बंगाल के शासक और अपने अधीनस्थ नायब तुगरलखाँ पर आक्रमण करने के लिये दो लाख आदमी भर्ती किए थे। तुगरल मार डाला गया और उसकी सेना पराजित हुई थी। चौदहवीं शताब्दी में फीरोजशाह और

तैमूर के साथ भी हिंदुओं को अनेक स्थानों पर जल-युद्ध करने पड़े थे। पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य में दक्षिण के बीजलगढ़ के राजा ने मुसलमानों को तंग करने और उनका व्यापार रोकने के लिये तीन सौ नावों का एक बहुत बड़ा बेड़ा तैयार किया था। सोलहवीं शताब्दी के आरंभ में गुजरात और मिस्र के बेड़ों ने मिलकर चोल बंदर के निकट पुर्त्तगाली बेड़े को परास्त किया था। उसके बाद पुर्त्तगालियों के साथ और भी कई बार हिंदुओं के जल-युद्ध हुए थे जिनमें पुर्त्तगाली परास्त हुए थे। आईन अकबरी के देखने से पता चलता है कि अकबर के राजत्वकाल में एक मीर-बहरी (समुद्रीय प्रधान) हुआ करता था जिसका महकमा और दफ़र बिलकुल अलग था। इस महकमे के कामों और काम करनेवालों का उसमें पूरा पूरा विवरण दिया हुआ है। जैसोर के प्रसिद्ध राजा प्रतापादित्य के यहाँ सदा बहुत से जहाज लड़ाई के सामान से दुरुस्त और तैयार रहा करते थे। बंगाल के कई मुसलमान नवाबों ने कई बार बहुत से जहाज लेकर आसाम पर आक्रमण किए थे। शिवाजी के पास भी कई बड़े बड़े और अच्छे जंगी बेड़े थे जिनकी सहायता से वे मक्के जाने और वहाँ से आनेवाले मुसलमानी जहाजों को लूटा करते थे। उनके राजत्वकाल में विजय-दुर्ग, कुलाबा, रत्नागिरि आदि स्थानों में बड़े बड़े बंदर थे जहाँ हजारों आदमी केवल जहाज बनाने में ही लगे रहते थे। अठारहवीं

शताब्दी के आरंभ में कई बार मराठे बेड़ों ने अँगरेजी जहाजों को बहुत तंग किया था और लड़ भिड़कर उनपर का माल असबाब ले लिया था। शंभूजी के उत्तराधिकारी तुलाजी के जहाज समुद्र में कच्छ से कोचीन तक बराबर घूमा करते थे और आने जानेवाले यूरोपीय जहाजों को बराबर लूटा करते थे। सन् १७५५ में अँगरेजों ने पेशवा के साथ मिलकर तूलाजी के बेड़े पर आक्रमण करके उसे नष्ट कर दिया था। उस बेड़े में तीन जहाज तो तीन मस्तूलोंवाले थे जिनमें से प्रत्येक पर बीस तोपें थीं, नौ जहाज दो मस्तूलवाले थे जिनपर बारह से सोलह तक तोपें थीं और तेरह बजरे थे जिनमें से प्रत्येक पर छः से दस तक तोपें थीं।

इस प्रकार प्राचीन काल से बहुत हाल तक भारतवासी समुद्र की यात्रा, युद्ध और व्यापार करने तथा बड़े बड़े जहाज बनाने में बहुत निपुण थे और इसी कारण उन्होंने अपने देश को बहुत संपन्न और बलशाली बना लिया था। समुद्रतट के प्रायः सभी बड़े बड़े नगरों और बंदरों में जहाज बनाने के बहुत बड़े बड़े कारखाने थे जिनमें से हर एक में हजारों आदमी काम करते थे। पर आजकल भारतवासियों को प्रायः पचीस करोड़ रुपये प्रतिवर्ष विदेशियों को जहाजों के किराये के रूप में देने पड़ते हैं। भला इस दुर्दशा का कहीं ठिकाना है।

यदि पश्चिमी सभ्य देश संपन्न और श्रेष्ठ हैं तो वह केवल समुद्रीय बल और व्यापार के कारण; और यदि कुछ पूर्वीय

देश दरिद्र और दुर्दशा-ग्रस्त है तो वह केवल इन्हीं दोनों बातों के अभाव के कारण। इतने विशाल अँगरेजी साम्राज्य की वृद्धि, पुष्टि और उन्नति केवल इसी कारण हुई कि इंगलैंड में समय समय पर अच्छे अच्छे नाविक हुए जिन्होंने बहुत दूर दूर की समुद्रीय यात्राएँ और लड़ाइयाँ करके अपना व्यापार और राज्य स्थापित किया। यदि अंगरेज भी समुद्री-यात्रा करने से प्रायश्चित्तार्ह होते तो आज इंगलैंड की भी वही दशा होती जो इस समय भारत की है।

यदि वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो संसार की उन्नति में सब से अधिक सहायता नाविकों से ही मिलती है। नए नए देशों और द्वीपों का पता नाविकों ने ही लगाया है। कोलंबस ने पहले पहल अमेरिका का पता लगाया था। फरनैंडो मैगेलन ने पहले पहल जहाज पर चढ़कर पृथ्वी-परिक्रमा की थी। डच नाविक बैरेंज ने नवा जंबला द्वीप ढूँढ निकाला था। वास्को डीगामा ने अफ्रिका के दक्षिण से भारत के मार्ग का पता लगाया था। कप्तान कुक अभी हाल में उत्तरी ध्रुव तक पहुँचे थे।

किसी समय अंगरेज जाति बहुत ही दुर्बल और दरिद्र थी और इंगलैंड में भी आजकल के भारत की तरह कभी केवल कच्चा माल ही तैयार होता था। इंगलैंड का ऊन बहुत अच्छा होता था, पर वह भेड़ों पर से उतारकर कातने और बुनने के लिए बेलजियम भेज दिया जाता था। अँगरेजों के हाथ

में उस समय कोई व्यापार नहीं था और फलतः उनके पास जहाज भी नहीं थे जिनमें काम करने के लिए वहाँ के साधारण नाविकों को स्थान मिलता। उस समय वे लोग दूसरों से लड़ने भिड़ने के योग्य भी न थे; इसलिये जब स्थल-युद्ध न होता तब वे लोग छोटी छोटी नावें लेकर समुद्र में चले जाते और आपस में ही लड़भिड़ लेते थे। यदि वे कभी किसी अकेले दुकेले जहाज़ को पा जाते तो उसे लूट लेते थे। इंगलैंडवालों की यह दशा बहुत हाल तक थी। पर रानी एलीजेबेथ के समय में और उसके बाद इंगलैंड में बहुत से ऐसे अच्छे अच्छे नाविक हुए जिन्होने अनेक कठिनाइयाँ सहकर अज्ञात सागरों में यात्राएँ की और विदेशों से व्यापार स्थापित करके अपने देश को उन्नत और समृद्ध बनाया। किसी समय स्पेनवालों की प्रभुता बहुत बढ़ी चढ़ी थी और उनके हाथ में बहुत बड़े व्यापार और अनेक देश थे। इंगलैंडवाले अपने देश, प्रतिष्ठा और स्वतंत्रता के लिये स्पेन के प्रसिद्ध अजेय बेड़े (Invincible Armeda) से भिड़ गए। उस समय प्रसिद्ध अंगरेज नाविक सर फ्रांसिस ड्रेक थोड़े से जहाज लेकर स्पेन पहुँच गए और वहाँ उन्होंने उस विशाल बेड़े पर आक्रमण कर दिया जो इंगलैंड पर आक्रमण करने की तैयारी में था। केवल दो दिनों में ड्रेक ने स्पेन के प्रायः डेढ़ सौ बड़े बड़े जहाज डुबाए, जलाए और नष्ट किए थे, उनपर का बहुत सा माल और असबाब ले लिया था और बहुत से कैदी पकड़ लिए थे।

इंगलैंड पहुंचकर ड्रेक ने सरकार को सूचना दी कि मैंने अभी शत्रु के नाश का जो कार्य किया है, वह बहुत ही थोड़ा है और अभी उनका बहुत सा बल ज्यों का त्यों बना है; अतः हम लोगों को निश्चिन्त होकर बैठ न जाना चाहिए बल्कि घोर युद्ध के लिए तैयार रहना चाहिए। स्पेनवालों ने अपने बेड़े को अजेय बनाने में कोई बात उठा नहीं रखी थी। उनके पास एक सौ छत्तीस बड़े बड़े जहाज थे। उनमें से अनेक जहाज तो इतने बड़े थे कि जिनकी बराबरी के जहाज और किसी के पास थे ही नहीं। उनके सैनिकों की संख्या बत्तीस हजार और मल्लाहों की दो हजार थी। उनके इतने आदमी तो जहाजों पर थे; और इसके अतिरिक्त तीस हजार सैनिक स्थल में युद्ध के लिये सुसज्जित थे। उस समय युरोप में पोप की भी बड़ी प्रधानता थी और पोप स्पेन के राजा फिलिप के पक्ष में था। पोप ने घोषणा कर दी कि रानी एलिज़िबेथ इंगलैंड के राज्यासन की वास्तविक अधिकारिणी नहीं हैं; और साथ ही उसने इंगलैंड का राज्याधिकार अपनी ओर से स्पेन के राजा फिलिप को दे दिया। इसके उपरांत स्पेन का अजेय बेड़ा इंगलैंड पर आक्रमण करने के लिये निकल पड़ा।

सन् १५८८ की २९ जुलाई को इंगलैंड के तट पर से स्पेनी बेड़ा आता हुआ दिखाई दिया। उस दिन संध्या को साठ अंगरेजी बड़े बड़े जहाज़ शत्रु का सामना करने के लिये तैयार

हो गए। दूसरे दिन प्रातःकाल अँगरेजी जहाज़ों ने भी आगे बढ़ना आरंभ किया, पर उस दिन शत्रुओं से उनकी मुठभेड़ नहीं हुई। अँगरेजी बेड़े के प्रायः सभी प्रधान कर्म्मचारी अच्छे नाविक और सैनिक थे। वीरता, धैर्य्य और साहस के अतिरिक्त उनमें स्वदेश प्रेम की मात्रा भी बहुत अधिक थी। अपनी मातृभूमि के लिये वे सब प्रकार के सकट सहने के लिये तैयार थे। दूसरे दिन युद्ध आरंभ हुआ, पर वह युद्ध गुथकर या मुकाबले में नहीं हुआ। स्पेनी जहाज भारी और भद्दे थे और अँगरेजी जहाज हलके और सुडौल। स्पेनी जहाजों को इधर उधर मुड़ने में बहुत कठिनता होती थी और बड़ा समय लगता था, पर अंगरेजी जहाज बड़ी सरलता से और तुरंत घूम जाते थे। अंगरेजी जहाज स्पेनी बेड़े के चारों ओर घूम कर गोले चलाने और उसके जहाजों मे आग लगाने लगे। दिन भर प्रायः यही होना रहा जिससे शत्रु की बहुत हानि हुई। रात के समय बड़ी गड़बड़ी मची। स्पेनी जहाज आपस में ही एक दूसरे से टकराने लगे। रात को अगरेजों ने शत्रु के कई जहाज डुबाए और पकड़ लिए। यह युद्ध इंगलैंड के तट के बहुत ही समीप हो रहा था, अतः किनारे पर से बहुत से लोग उसका तमाशा देख रहे थे। देशभक्त प्रजा अपने रक्षकों की सहायता के लिये रसद और आदमियों से भरी नावें बराबर अंगरेजी जहाजों पर भेज रही थी। जब स्पेनियों की बहुत अधिक हानि हुई तब उनका बेड़ा पीछे हटने लगा। स्पेनियों

के इस पीछे हटने का एक उद्देश था। स्पेनी नीदरलैंड में तीस हजार स्पेनी सैनिक थे और उन्हीं सैनिकों की सहायता लेने के लिये वे पीछे हट रहे थे। पर बेड़े के नीदरलैंड-तट तक पहुँचने से पहले ही डच और जीलैंड के संयुक्त बेड़े ने नीदरलैंड के सब बंदरों का मुहाना रोक दिया। तीस हजार स्पेनी सैनिक जहाँ के तहाँ पड़े रह गए।

उस समय अंगरेजों ने स्पेनियों पर भीषण आक्रमण करने का विचार किया। आक्रमण की सब तैयारियाँ हो चुकने पर आग लगानेवाले जहाज़ स्पेनी बेड़े की ओर भेजे गए। उस समय शत्रु की घबराहट का ठिकाना न रहा। बेड़े के सब जहाज़ तितर बितर होकर भागने लगे। रात ही भर में बहुत से जहाज जले, टूटे और डूब गए। अंगरेजों ने बहुत वीरतापूर्वक उनका पीछा किया और चुन चुनकर सबको बेकाम किया। उस समय तक सोलह अच्छे अच्छे स्पेनी जहाज़ नष्ट हो चुके थे, पर अंगरेज़ों का एक भी जहाज़ न डूबा था और प्रायः सौ ही आदमी मरे थे।

उसी समय जोर का तूफान भी आ गया। इससे स्पेनी जनरल ने अपने बाकी जहाज़ों को पीछे हटने की आज्ञा दी। स्पेनी बेडा उत्तर पश्चिम की ओर बढ़ने लगा। इतने में हवा और भी तेज हो गई। स्पेनी जहाज़ उत्तरीय समुद्र की ओर जाने लगे। थोड़े से अँगरेज़ी जहाज़ों ने कुछ दूर तक उनका पीछा किया; पर जब उन्होंने देखा कि शत्रु के जहाज़ तूफान

के कारण आप ही नष्ट हो जायँगे और अब आगे बढ़ना अनावश्यक है, तब वे रुक गए। उसी तूफान में स्पेनियों के बहुत से जहाज़ डूब गए। कई जहाज़ तो नारवे के तट तक पहुँच गए। वे लौटकर स्पेन नहीं जा सकते थे, क्योंकि अँगरेज़ों ने रास्ता रोक रखा था। यदि वे चाहते तो स्काट-लैंड और आयर्लैंड की परिक्रमा करके अपने देश में पहुँच सकते थे, पर उधर से जाना सहज काम नहीं था। तूफान की भयंकरता बराबर बढ़ती ही जाती थी, इससे प्रायः सभी स्पेनी जहाज़ नष्ट हो गए। स्काटलैंड और आयरलैंड के तट पर स्थान स्थान पर स्पेनी टूटे हुए जहाजों के टुकड़े दिखाई पड़ते थे। उन जहाजों पर के आदमी भी प्रायः सभी नष्ट हो गए थे। जो जहाज़ नष्ट होने से बच गए थे, वे भी बिलकुल बेकाम हो गए थे। इस प्रकार स्पेन का अजेय बेड़ा नष्ट हो गया और अँगरेज़ों ने उस पर विजय प्राप्त की। इसके बाद स्पेन के राजा फिलिप ने फिर कभी अजेय बेड़े के संघ-टन का प्रयत्न नहीं किया। तो भी उसके बाद अँगरेज़ों और स्पेनियों में बराबर छोटे मोटे युद्ध होते रहे, जिनमें सदा अँगरेज़ों की ही जीत होती थी।

शक्ति और व्यापार का घनिष्ठ संबंध है। जिस जाति में बल नहीं होता, उसका व्यापार ठहर नहीं सकता और न व्या-पार के बिना बल बना रह सकता है। बल और व्यापार दोनों एक दूसरे पर निर्भर करते हैं। प्रायः सभी साम्राज्यों और

राज्यों के आधुनिक इतिहास इस बात के साक्षी हैं कि जिसने अपना बल बढ़ाया, उसी ने दुनियां के बाजारों पर भी अपना अधिकार किया; और जिसका व्यापार बढ़ा, उसे उसकी रक्षा के लिये अपना बल बढ़ाना पड़ा। यद्यपि आजकल के कुछ राजनीतिज्ञ इस सिद्धांत का विरोध करते हुए कहते हैं कि अब वह समय नहीं रहा कि किसी जाति को अपना व्यापार बढ़ाने के लिये अपना बल बढ़ाना भी आवश्यक हो, तथापि अभी उनका यह मत स्वीकृत नहीं हो सका है। यह तो नहीं कहा जा सकता कि भविष्य में व्यापार और बल का वैसा संबंध रहेगा या नहीं जैसा कि अब तक है; पर देशों की अब तक की उन्नति इसी सिद्धांत का समर्थन करती है।

जिस समय नेपोलियन का प्रताप-सूर्य्य मध्य आकाश में था, उस समय उसने अँगरेजी जहाजों को युरोप के सभी बंदरों में जाने से रोक दिया था। इटली, फ्रांस, स्पेन, हालैंड, डेन्मार्क और जर्मनी के किसी बंदर में कोई अँगरेजी जहाज न जाने पाता था। इस कारण इंगलैंड का सारा व्यापार रुक गया। यदि यह दशा कुछ और समय तक बनी रहती तो आज इंगलेंड का कहीं पता भी न लगता। पर इंगलैंड के सपूत नेलसन ने नेपोलियन की जल-शक्ति नष्ट करके अपने देश को दुर्दशा से बचा लिया। इसके उपराँत इंगलैंड का व्यापार फिर चमक उठा और अब वह संसार का सब से बड़ा व्यापारी समझा जाता है।

इंगलैंड द्वीप है, अतः वहाँ के निवासी स्वभाव से ही अच्छे नाविक होते हैं। अंगरेज जाति अपने आपको नाविक जाति कहती है। इंगलैंड का सारा महत्त्व वहाँ के निवासियों के नाविक होने पर ही निर्भर है। गत युरोपीय महायुद्ध में भी इंगलैंड की रक्षा का कारण उसकी जल-शक्ति ही था। जल-शक्ति के लिये केवल जहाज चलाने की विद्या जाननेवालों की ही जरूरत नहीं है। नाविक के लिये और भी अनेक गुणों की अपेक्षा होती है। जहाज चलाने की विद्या सीखनेवाले कुछ युवकों को लार्ड सैंडन ने एक बार कहा था—"प्रथम श्रेणी के अंगरेज नाविक होने से बढ़कर उत्तम और कौन सी बात हो सकती है? और अंगरेज नाविक को सदाचार संबंधी किन किन बातों की आवश्यकता है? मेरी समझ में सबसे पहले उसे सत्यनिष्ठ, वीर, दयालु और ईश्वर तथा स्वदेश के प्रति कर्त्तव्यों के पालन में दृढ़ होना चाहिए। सबसे अधिक सुख-पूर्ण जीवन उन्हीं लोगों का होता है जो अपने से अधिक अपने पार्श्ववर्त्तियों की चिंता रखते हैं, जो अपने कर्त्तव्यों का पालन करते हैं और शेष बातों को ईश्वर के भरोसे पर छोड़ देते हैं।" महारानी विक्टोरिया ने जहाजी लड़कों के इनाम पाने के लिये जो शर्त्तें लगाई थीं, वे इस प्रकार हैं—"अपने से बड़ों की आज्ञा का प्रसन्नतापूर्वक पालन करना, आत्माभिमान और व्यक्तित्व की स्वतंत्रता,

दुर्बलों पर दया और उनकी रक्षा, किसी अपराध के लिये दूसरे को क्षमा कर देने की तत्परता, दूसरों का भेद भाव दूर करने की अभिलाषा, और सबसे बढ़कर निर्भयता-पूर्वक कर्त्तव्यों का पालन तथा अटल सत्यता।" ये सब सिद्धांत ऐसे हैं कि यदि इनका पालन किया जाय तो प्रत्येक अवस्था में मनुष्य का नैतिक चरित्र परम प्रशंसनीय और पूर्ण हो सकता है।

नाविक को सदा अपने जहाज पर रहना पड़ता है। जब किसी दुर्घटना आदि के कारण जहाज डूबने को होता है, तब कप्तान सब लोगों के पीछे उसपर से उतरता है। चाहे तूफ़ान हो और चाहे आग लगे, कप्तान पहले स्त्रियों और बच्चों को जहाज पर से उतारने का प्रबंध करता है, तब दूसरे यात्रियों को: और तदुपरांत जहाज़ पर काम करने-वालों को उतारता है। वह स्वयं सब से पीछे जहाज छोड़ता है। उस समय वह जो साहस और कर्त्तव्य-निष्ठा दिखलाता है, उसके बदले में वह अपनी प्रशंसा नहीं कराना चाहता। उसकी सब से बड़ी प्रशंसा यही है कि वह अपने कर्त्तव्यों का पालन करे। विपत्ति-काल में ही मनुष्य को अपने सर्वोच्च गुण दिखलाने का अवसर मिलता है। जिस समय बहुत से लोगों की जान पर आ बनी हो, उस समय प्रतिष्ठा यही कहती है कि जैसे हो, लोगों की रक्षा की जाय। आनेवाली विपत्ति की भीषणता का चाहे पूरा पूरा अनुमान

हो, जाय, पर तौ भी साहसी मनुष्य कभी पीछे नहीं हटता। वह मर्दानगी से उसका सामना करता है। वह अपने जीवन और मरण दोनों को समान ही समझता है।

जहाज के कप्तान को अपने कर्त्तव्य का इतना अधिक ध्यान रखना पड़ता है जितना कदाचित् ही और किसी को रखना पड़ता हो। एक बार जब एक जहाज डूबने लगा, तब उसके कप्तान ने आज्ञा दी कि नावें समुद्र में छोड़ दी जायँ और उनपर पहले स्त्रियाँ तथा बच्चे उतारे जायँ। उस जहाज पर बहुत से भीरु पुरुष भी थे जो स्त्रियों और बच्चों के उतरने से पहले ही नावों की ओर झपटे। कप्तान रास्ते में एक रिवाल्वर हाथ में लेकर खड़ा हो गया और बोला कि स्त्रियों और बच्चों के उतरने से पहले जो मनुष्य आगे बढ़ेगा, मैं उसके प्राण ले लूँगा। इतना होने पर भी एक कायर आगे बढ़ा ही। कप्तान ने चट रिवाल्वर दाग दी और गोली उस मनुष्य के पैर में लगी। स्त्रियों और बच्चों के उतरने के उपरांत कुछ पुरुष भी उतरे। पर वह कप्तान उसी जहाज पर रहा और अंत में उसके साथ ही डूब गया!

स्थल-सेना के कप्तानों और सिपाहियों में परस्पर जितनी एकता रहती है, जहाज के कप्तानों और उनके अधीनस्थ कर्मचारियों में उससे कहीं अधिक एकता रहती है। उनका पारस्परिक संबंध अपेक्षाकृत अधिक घनिष्ट और दृढ़ होता है। उनकी पारस्परिक सहानुभूति भी अधिक होती है और

प्रेम भी। आवश्यकता पड़ने पर एक दूसरे के जीवन की रक्षा के लिये वे सदा आश्चर्यजनक रूप में तत्पर रहते हैं। फरवरी १८८० में "इन्विन्सिबुल" (Invincible) नामक एक अंग्रेजी जहाज अलेक्जेन्ड्रिया से अबूकीर की खाड़ी की ओर जा रहा था। इतने में शोर हुआ कि एक आदमी समुद्र में गिर पड़ा। तुरंत उसे उठाने के लिये नावें समुद्र में छोड़ी गईं; पर इतने में ही वह आदमी बहुत अधिक पानी पी जाने के कारण बेहोश होकर डूबने लगा। उसे डूबते देख जहाज का कप्तान जूता, कोट, टोपी आदि सब कुछ पहने ही समुद्र में कूद पड़ा और तैरकर उस डूबते हुए आदमी के पास पहुंचा। यदि कप्तान के पहुंचने में एक क्षण का भी विलंब हो जाता तो उस आदमी के डूब जाने में कोई संदेह नहीं था। उस समय भी वह आदमी पानी के कुछ नीचे जा चुका था। कप्तान ने गोता लगाकर उसे ऊपर निकाला। उस समय वह मनुष्य मृतप्राय हो रहा था। ऐसे आदमी को जल में संभालना बहुत ही कठिन और परिश्रमसाध्य होता है। जहाज पर के दो कर्मचारियों ने जब देखा कि उस आदमी के साथ साथ कप्तान की जान भी जोखिम में पड़ी है, तब वे दोनों भी कप्तान की सहायता के लिये ज्यों के त्यों समुद्र में कूद पड़े। इतने में वहाँ नावें पहुँच गईं और चारों आदमी सही सलामत नाव पर चढ़ा लिए गए। सब के प्राण बच गए। नवम्बर १८७८ में एक

और भी भीषण दुर्घटना हुई थी। उस समय फ्रांस की एक नदी में फ्रांसीसी जहाज खड़ा था जिसपर पेट्रोलियम लदा हुआ था। अचानक कहीं से पेट्रोलियम में आग लग गई। पेट्रोलियम की आग को भीषण रूप धारण करते क्या देर लगती है! तुरंत सारा जहाज जलने लगा। जहाज में चारों ओर से लपटें निकल रही थीं। उसके खलासी आदि बड़े ही संकट में पड़ गए थे। उन्हें अपने जीवन की कोई आशा नहीं रह गई थी। उस समय पास ही एक अंगरेजी जहाज खड़ा हुआ था। उसपर के कप्तान तथा एक बढ़ई ने निश्चय किया कि जिस प्रकार हो, जलते हुए जहाज पर के खलासियों की रक्षा करनी चाहिए। दोनों आदमी चट एक नाव पर सवार होकर उस जहाज की तरफ़ बढ़े। पीपों के फटने के कारण बहुत सा पेट्रोल समुद्र में गिरकर जल रहा था जिसके कारण रास्ते में ही उन दोनों के कपड़े जल गए थे और हाथ पैर झुलस गए थे। तो भी वे लोग उस जलते हुए जहाज पर पहुँचे ही। उसके खलासियों आदि को बचाना कोई सहज काम नहीं था। उसके लिये बड़ी ही वीरता और बड़े ही स्वार्थत्याग की आवश्यकता थी। तो भी वे खलासियों आदि को बचाकर उस जलते हुए जहाज पर से अपने जहाज पर ले आए। उन्होंने यह काम धन के लिये नहीं किया था, गौरव या प्रतिष्ठा के लिये भी नहीं किया था, किया था केवल कर्त्तव्य-

पालन के विचार से। इस काम में यहाँ के हाथ पैर इतने झुलस गए थे कि वह आगे चलकर अपना काम करने के योग्य भी नहीं रह गया था। उसको अपना शेष जीवन अपाहिजों की तरह बिताना पड़ा। उन दोनों को फ्रांस तथा इंगलैंड की सरकार की ओर से कई पदक अवश्य मिले थे। पर आदमी का गुजारा केवल पदकों से नहीं हो सकता।

अमेरिका में भी एक बार एक ऐसे जहाज पर आग लग गई थी जिस पर कोई सौ सवा सौ मनुष्य सवार थे। उस समय एक आदमी इंजिन के चक्कर पर खड़ा था। उसने देखा कि जहाज जलकर डूब जायगा और उसपर के यात्रियों के प्राण न बच सकेंगे। उसने सोचा कि यदि किसी प्रकार यह जहाज किनारे तक पहुँच जाय तो फिर इसके डूबने की आशंका न रह जायगी और आदमियों के प्राण बच जायँगे। वह जहाज का चक्कर घुमाकर उसे किनारे की ओर ले जाने लगा। इतने में आग बढ़कर उसके पास तक पहुँच गई और थोड़ी ही देर में उसके कपड़ों में भी लग गई। उसका सारा शरीर जलने लगा, पर फिर भी उसने चक्कर नहीं छोड़ा। वह उसे घुमाता ही रहा। बड़ी कठिनता से भीषण वेदना सहते हुए उसने जहाज को किनारे पर पहुँचाया। जहाज के सौ सवा सौ यात्री बच गए और वह स्वयं उन्हें बचाने के प्रयत्न में जल मरा। चक्कर पर खड़े खड़े जल मरना उसने अधिक उत्तम समझा, पर यात्रियों की रक्षा का प्रयत्न

उसने नहीं छोड़ा। दूसरों की रक्षा करने में ही उसने अपने प्राण गँवा दिए।

एक बार एक ऐसे अंगरेजी जहाज में आग लग गई थी जिसपर कुछ सैनिक सवार थे और साथ ही गोला बारूद भी था। सब लोग अपने अपने काम पर मुस्तैद हो गए और आग बुझाने का प्रयत्न होने लगा। इतने में बारूद के दो पीपों में आग लग गई जिसके कारण जहाज का कुछ भाग बिलकुल उड़ गया। आग भीषण रूप धारण करने लगी। स्त्रियाँ और बच्चे नावों पर उतार दिए गए और सिपाही आग बुझाने लगे। लगातार दो दिन तक कठिन परिश्रम करके वे लोग आग बुझाने में सफल हुए। पर उस समय तक जहाज का बहुत बड़ा भाग बिलकुल नष्ट-भ्रष्ट हो चुका था। जब आग शांत हुई तब भारी तूफान आया और समुद्र में बड़ी बड़ी लहरें उठने लगी। जहाज में छेद हो गए थे। उनमें कंबल आदि भर भरकर उन्होंने उसे डूबने से बचाया और बड़ी ही कठिनता से तूफान और लहरों से जहाज की रक्षा की। आठ दिन तक लगातार कठिन परिश्रम करने के उपरांत उन लोगों ने उस जहाज को मारिशस टापू मे पहुँचाया। इस दुर्घटना में एक भी प्राण-हानि नहीं हुई थी। उन सैनिकों के झंडे आदि नारा गिरजे में रखे हुए हैं। जब कोई विदेशी पूछता है कि ये झंडे किसके हैं, तब उन सैनिकों के रण-कौशल का उल्लेख

नहीं होता; बल्कि कहा जाता है कि ये झंडे सारासैंड्स जहाज को बचानेवाले सैनिकों के हैं।

एक बार एक और ऐसे जहाज में आग लग गई थी जिसपर दो सौ अस्सी सैनिक सवार थे। उस जहाज के बचने की कोई आशा नहीं थी; इसलिये जो थोड़ी बहुत नावें थीं, उन्हीं पर लोग उतारे जाने लगे। एक अविवाहित अफसर को भी लोगों ने नाव पर उतरने के लिये कहा। पर उसने अपना स्थान एक ऐसे अफसर को दे दिया जो विवाहित था और जिसके आगे संतान थी। इसको सच्ची वीरता कहते हैं। उसने अपने प्राणों की चिंता नहीं की। वह स्वयं जहाज पर रहकर डूब गया और अपने बदले उसने एक ऐसे आदमी को नाव पर सवार करा दिया, दूसरों के हित और रक्षा के लिये जिसका जीवित रहना स्वयं उसके जीवित रहने की अपेक्षा कहीं अधिक आवश्यक था।

पुराने जमाने में जब कि किनारों पर प्रकाशगृह नहीं बने होते थे, जहाजों के लिये अँधेरी रात में किनारे तक पहुँचना बहुत ही कठिन होता था। उस समय जहाज प्रायः किनारे की चट्टानों आदि से टकराकर डूब जाते थे। पीछे से प्रकाशगृह बनाए जाने लगे जिनका प्रकाश देखकर जहाज ठीक मार्ग से होकर किनारे लगते हैं। इस प्रकार के प्रकाशगृह सबसे पहले इंगलैंड के दक्षिणी तट पर बने थे जो लकड़ी के थे। वहाँ पर समुद्र के बीच में एक छोटी

चट्टान थी जिससे टकराकर बहुत से जहाज डूब चुके थे। वह चट्टान तट से प्रायः बीस मील की दूरी पर थी। कुछ लोगों ने सोचा कि कोई ऐसा उपाय होना चाहिए जिससे जहाज़ इस चट्टान से टकराकर नष्ट न हुआ करें। वे लोग एक छोटी नाव पर सवार होकर उस चट्टान तक पहुँचे और वहाँ पत्थर में छेद करके लोहे का बड़ा छड़ गाड़ने लगे। इतने में तूफान आया। सब लोग उसी आधे गड़े हुए छड़ को पकड़कर लटक गए और दो दिन तक उसी दशा में लटके रह गए। ऊँची ऊँची लहरें उठकर उन्हें बहा ले जाने का प्रयत्न करती थीं, पर वे बड़ी कठिनता से उनसे अपनी रक्षा करते थे। तीसरे दिन जब लहरे कम हुईं, तब फिर उन्होंने लोहे के छड़ गाड़े जिनपर पीछे से काठ का एक छोटा प्रकाशगृह बना जो प्रायः सौ वर्ष तक जहाजों की रक्षा करता और उन्हें मार्ग दिखलाता रहा। उन लोगों ने इतना कष्ट केवल दूसरों की रक्षा के विचार से सहा था। स्वयं उनका उसमें कोई विशेष स्वार्थ नहीं था। प्रकाशगृह बनानेवालों का काम बड़ी ही जोखिम का होता है। इसी लिये एक प्रकाश-गृह बनानेवाले को ड्यूक आफ वेलिंगटन से परिचित कराते समय एक आदमी ने कहा था—"इन्होंने भी उतनी ही लड़ाइयाँ जीती हैं जितनी श्रीमान् ने जीती हैं, पर इनकी जीत में एक भी प्राण-हानि नहीं हुई।"

छठा प्रकरण

सैनिक

नाविकों की तरह सैनिकों का जीवन भी आदि से अंत तक कर्त्तव्यपूर्ण होना है। उन्हें सदा आज्ञाकारी और तत्पर रहना पड़ता है। आज्ञा मिलते ही उन्हें मौत के मुँह में भी जाना पड़ता है। वहाँ कोई दलील नहीं लग सकती। उनके लिये आज्ञाकारिता और साहस की बहुत बड़ी आवश्यकता होती है। सुस्त से सुस्त और निकम्मे से निकम्मा आदमी भी अगर फौज में पहुँच जाय तो वहाँ उसे तुरंत भारी भारी कामों में लग जाना पड़ता है। उसे रात रात भर अपनी जगह पर खड़े होकर पहरा देना पड़ता है। युद्ध-क्षेत्र में सेना के अगले भाग की चौकियों पर पहरा देना बड़े ही उत्तरदायित्व का काम है। यदि वहाँ उसे नींद आ जाय तो केवल उसका ही नहीं बल्कि उस सेना का भी नाश हो जायगा जिसकी रक्षा के लिये वह नियुक्त रहता है।

सैनिकों के लिये अनेक गुणों की आवश्यकता है। सब से पहली बात तो यह है कि उसे सदा अपने देशवासियों की रक्षा के लिये अपने प्राण विसर्जन करने को तैयार रहना चाहिए। दूसरी बात यह है कि उसे सदा सब प्रकार के काम

करने के लिये बिलकुल तैयार और मुस्तैद रहना चाहिए। लार्ड लारेंस का तो मानों यह सिद्धांत सा हो गया था कि—"सदा तैयार रहो।" इस विषय में राजा चतुर्थ हेनरी का उदाहरण बहुत ही शिक्षाप्रद है। जिस समय मेयेन अपने पचीस हजार सैनिकों के साथ उसका पीछा कर रहा था, उस समय उसके पास केवल पाँच हजार सैनिक थे। इसके अतिरिक्त हेनरी के पास लड़ाई के दूसरे सामानों की भी बहुत कमी थी। तो भी हेनरी ने आरकेम युद्ध में मेयेन को परास्त करके ही छोड़ा था। और उसकी इस विजय का मुख्य कारण बहुत से अंशों में यही था कि उसमें मेयेन की अपेक्षा कई व्यक्तिगत गुण अधिक थे। मेयेन बहुत ही सुस्त था। उसे जितना समय केवल भोजन करने में लगता था, उतना समय हेनरी को सोने में भी न लगता था। एक बार एक आदमी हेनरी के सामने मेयेन के साहस और वीरत्व की बहुत अधिक प्रशंसा कर रहा था। सब कुछ सुनकर हेनरी ने अंत में कहा था कि—"हाँ, तुम बहुत ठीक कहते हो; वह बहुत बड़ा सेनापति है। परंतु मैं सदा उससे पाँच घंटे पहले ही कार्य्य आरंभ कर देता हूँ।" बात यह थी कि हेनरी सदा प्रातःकाल पाँच बजे उठा करता था और मेयेन दस बजे तक बिस्तर पर ही पड़ा रहता था। और यही उन दोनों में बड़ा भारी अंतर था। भला जो सैनिक समय पर तैयार ही न रहेगा, वह क्या लड़ेगा और क्या अपने देशवासियों तथा

देश की रक्षा करेगा ? भारतीय इतिहास में अनेक वार ऐसा हुआ है कि सदा तत्पर रहनेवाले थोड़े से राजपूतों ने निकम्मे, सुस्त और ऐश-आराम में मस्त रहनेवाले बहुत से मुग़लों पर बहुत ही थोड़े समय में भारी विजय प्राप्त की है। प्रायः ऐसा हुआ है कि मुग़ल सेना तो थोड़ी सी विजय प्राप्त करके शराब पीने और ऐश करने लग गई है और उसी बीच में थोड़े से बहादुर और मुस्तैद राजपूतों ने छापा मारकर उनपर भारी विजय प्राप्त की है।

सच्चे वीरों में यह भी एक बड़ा भारी गुण होता है कि वे अपने साथियों को अपना पूरा भक्त और सहायक बना लेते हैं। जो सेनापति या नायक वास्तव में वीर होते हैं, उनपर सैनिकों को बहुत सहज मे पूरा पूरा विश्वास हो जाता है। ऐसा सेनापति भारी से भारी विपत्ति या कठिनता के समय भी अपने सैनिकों के साथ रहकर सदा उनका उत्साह बढ़ाया करता है। और जो सेनापति वास्तव में वीर नहीं होता, वह साधारण विपत्ति के समय भी अपने सैनिकों को छोड़कर भाग जाता है जिसके कारण उसपर निर्भर रहनेवाले सैनिकों के भी प्राण जाते हैं और देश की भी भारी हानि होती है। सैनिक के लिये दूरदर्शिता और बुद्धिमत्ता की भी बहुत अधिक आवश्यकता हुआ करती है। यदि वह दूरदर्शी न हो तो अंत में कभी उसकी विजय नहीं हो सकती; और यदि वह मूर्ख हो तो अपने दुश्मन की कम-

जोरियों को समझ ही नहीं सकता। महाराष्ट्र केसरी वीरवर शिवाजी और राजस्थान केसरी महाराणा प्रताप में ये सब गुण पूर्ण रूप से विद्यमान थे। जिस समय सन् १६५६ में शाहजहान बादशाह बीमार हुआ था, उस समय औरंगजेब दक्षिण में बीजापुर पर विजय प्राप्त करके उसे ध्वंस करने की चिंता में लगा हुआ था। उस समय औरंगजेब ने शिवाजी को लिखा था कि आपको उचित है कि इस समय कुछ सेना से मेरी सहायता करें। लेकिन शिवाजी ने अपनी दूरदर्शिता तथा बुद्धिमत्ता के कारण इस प्रकार औरंगजेब की सहायता करने में अपने देश तथा देशवासियों की बहुत बड़ी हानि देखी और औरंगजेब को लिख भेजा कि मेरी सेना विद्रोह में सम्मिलित नहीं हो सकती; अतः मैं तुम्हारी सहायता नहीं कर सकता। यदि शिवाजी दूरदर्शी और बुद्धिमान् न होते तो वे उस समय चुपचाप बैठे रहते; और जब औरंगजेब दिल्ली का बादशाह हो जाता तब वह सहज में शिवाजी की बहुत भारी हानि कर सकता था। लेकिन शिवाजी ने पहले से ही समझ लिया कि इस असत्-कार्य्य में सहायता न देने के कारण शीघ्र ही औरंगजेब हमपर आक्रमण करेगा, अतः हमें ही पहले युद्ध के लिये तैयार हो जाना चाहिए। यही नहीं, बल्कि शीघ्र ही उन्होंने मुग़लों के प्रांत पर आक्रमण भी कर दिया। इसमें उन्होंने दो बातें सोची थीं। एक तो यह कि

इस आक्रमण में कुछ धन मिल जायगा; और दूसरे यह कि औरंगजेब को अभी से हमारा रंग-ढंग मालूम हो जायगा। उसी समय उन्होंने जूनार तथा अहमदनगर तक आक्रमण करके अपना धन और बल बहुत कुछ बढ़ा लिया और इस प्रकार भारी विपत्तियों से अपनी रक्षा करने के कई उपाय कर लिए। अकबर के बहुत से बड़े बड़े सरदार अच्छी अच्छी सेनाएँ लेकर सदा पहाड़ों और जंगलों में महाराणा प्रताप का पीछा किया करते थे; पर कभी कोई महाराणा को पकड़ न सका। महाराणा सदा उनसे लड़ भिड़कर अथवा बिना लड़े ही साफ बचकर निकल जाते थे और कभी उन लोगों के हाथ में न आते थे। शहबाजखाँ को पहाड़ियों और जंगलों में बहुत दिनों तक इधर उधर फिरा कर महाराणा ने बहुत ही तंग किया था जिससे अंत में थककर उसने उनका पीछा करना छोड़ ही दिया। यद्यपि देश बराबर महाराणा के हाथ से निकलता जाता था और उनके कष्ट दिन पर दिन बढ़ते जाते थे, तथापि लड़ने-भिड़ने से वे कभी बाज नहीं आए और न उन्होंने कभी पराधीनता ही स्वीकृत की। हार होना बात दूसरी है। यदि कोई वीर हार जाय तो इससे उसकी वीरता में कभी बट्टा नहीं लग सकता। यह सिद्धांत सर्वसम्मत है। सन् १८७० में जब जर्मनी ने फ्रांस पर भारी विजय प्राप्त की थी, तब जर्मनी के एक कवि ने अपने देश के प्रधान सेना-

प्रति वान माल्के की प्रशंसा में एक बड़ा काव्य बनाया था जिसमें उसने कहा था कि माल्के के सामने सिकंदर, नेपोलियन, हनीबाल और मार्लबरो आदि वीर कोई चीज ही नहीं हैं। इस काव्य की प्राप्ति-स्वीकार करते हुए वान माल्के ने उस कवि को लिखा था कि महत्ता की परीक्षा कठिनता के समय ही हुआ करती है। उसने यह भी लिखा था—"हमें बहुत बड़ी विजय प्राप्त हुई है, पर यह विजय केवल मनुष्यों के कारण ही नहीं हुई। इसमें ईश्वर की भी बहुत कुछ सहायता हुई है। इतनी बड़ी विजय अवश्य ही ऐसी बातों के कारण हुई है जो मनुष्यों के अधिकार से बाहर हैं।" अभागे सुकवि एड्रियन की कब्र पर नीचे लिखे हुए वाक्य खुदे हैं—"अनेक बार ऐसा हुआ है कि परिस्थित की अजेय शक्ति के कारण बहुत ही अयोग्य मनुष्य को विफलता हुई है और बहुत ही कम योग्य मनुष्य ने विजय प्राप्त की है।"

सैनिक में आत्म-त्याग करने का साहस भी बहुत अधिक आवश्यक होता है। सन् १७६० में फ्रांस के राजा चौदहवें लूई ने कुछ सेना जर्मनी पर आक्रमण करने के लिये भेजी थी। वह सेना एक स्थान पर जंगल के किनारे छावनी डाले पड़ी थी। उस सेना का एक युवक उठकर रात के समय शत्रु का पता लगाने के लिये जंगल में अकेला घुस गया। वह अपनी सेना से थोड़ी ही दूर गया होगा कि इतने में उसे शत्रु

के कुछ सिपाहियों ने आ घेरा। उन सिपाहियों ने उस फ्रांसीसी युवक के कलेजे पर संगीनें रख दीं और उनमें से एक सिपाही ने बहुत ही धीरे से उस युवक के कान में कहा—"यदि तुम जरा भी चिल्लाए तो यहीं खतम कर दिए जाओगे" वह युवक अफसर समझ गया कि शत्रु के ये सब सिपाही रात के समय फ्रांसीसी लश्कर पर छापा मारने जा रहे हैं। उसने तुरंत खूब ज़ोर से चिल्लाकर पुकारा—"शत्रु आ पहुँचे।" उसके चिल्लाते ही जर्मन सिपाहियों ने उसे मार डाला। परंतु उसकी मृत्यु से उसकी सेना की रक्षा हो गई। जर्मन सैनिक फ्रांसीसी सेना पर छापा न डाल सके और पीछे लौट गए। यदि वह अफसर उस समय चुप रह जाता तो उसके प्राण तो बच जाते, परंतु उसके साथी सैनिक अवश्य मार डाले जाते। पर उस वीर ने अपने प्राणों की कुछ भी परवा न की और अपनी जान देकर अपने साथियों को बचा लिया।

कहा जाता है कि सभी देशों में बड़े बड़े युद्ध उन्हीं दिनों में हुए हैं जिन दिनों वहाँ शान्ति काल की कलाओं का बहुत अधिक विकास और बहुत अधिक उन्नति हुई थी और जिन दिनों वहाँ की साहित्यिक प्रतिभा का सूर्य अपनी पूरी तेजी से चमकता था। यूनान का ही उदाहरण लीजिए। सुकरात, एसूकीलस, सोफोकल्स और ज़ेनोफन सभी अपने देश की रक्षा करने के लिये बड़े बड़े युद्धों में लड़े थे

और सभी ने अंत में साहित्य भंडार की बहुत बड़ी पूर्ति की थी। जिन दिनों रोम का प्रताप-सूर्य अपनी पूरी तेजी से चमकता था, उन दिनों वहाँ की भी यही दशा थी। सुप्रसिद्ध सीजर रोम का सबसे बड़ा योद्धा भी था और सबसे बड़ा लेखक भी। सुप्रसिद्ध कवि होरस भी अपनो युवावस्था में सैनिक ही था और ब्रूटसने उसे कई हजार सैनिकों का सेनापति बनाया था। हमारे यहाँ चंद, अकबर, बीरबल, टोडरमल, शिवाजी, महाराज छत्रसाल आदि इसके उदाहरण हैं। इसी प्रकार और भी उनके बहुत बड़े बड़े कवियों, लेखकों और वैज्ञानिकों के नाम बतलाए जा सकते हैं जिन्होंने अपने देश तथा विदेश में बड़े बड़े जल तथा स्थल युद्ध किए हैं। इसका कारण यही हो सकता है कि सैनिक जीवन में उन्हें आज्ञाकारिता, परिश्रम और व्यवस्था आदि बातों की बहुत अधिक आवश्यकता होती है, उनके चरित्र के संघटन पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है और चित्त को एकांत करने की वह शक्ति बढ़ती और विकसित होती है जिसकी कि सच्ची प्रतिभा के संघटन में बहुत अधिक आवश्यकता पड़ती है।

दांते एक युद्ध में बहुत ही वीरतापूर्वक लड़ा था जिसके कारण पीछे से उसे फ्लोरेंस नगर से निर्वाचित होना पड़ा था। सन् १३७९ में जब तृतीय एडवर्ड ने फ्रांस पर आक्रमण किया था, तब उसकी सेना में अँगरेजी का सुप्रसिद्ध कवि चासर भी सम्मिलित था। जार्ज बुकानन और बेन जानसन

भी सैनिक थे। सर फिलिप सिडनी की तो मृत्यु ही युद्ध में हुई थी। इस अवसर पर हम उनके अंतिम समय की एक घटना का उल्लेख कर देना चाहते हैं जिसके कारण इतिहास में उनकी कीर्ति बहुत बढ़ गई है। सर फिलिप सिडनी जटफेन के युद्ध-क्षेत्र में बहुत बुरी तरह घायल होकर पड़े हुए थे। उनके शरीर में से बहुत अधिक रक्त निकल गया था जिसके कारण उन्हें बहुत अधिक प्यास लगी थी। उस समय उनके माँगने पर थोड़ी शराब लाई गई थी। ज्यों ही वे बोतल को मुँह से लगाना चाहते थे, त्यों ही उन्होंने देखा कि दूर ही से कुछ लोग एक घायल सिपाही को ले जा रहे हैं। वह घायल सिपाही बहुत ही ललचाई हुई आँखों से उस बोतल की ओर देख रहा था। यह देखते ही सर फिलिप ने तुरंत वह बोतल उस सिपाही को यह कहते हुए दे दी कि—"मेरी अपेक्षा तुम्हें इसकी अधिक आवश्यकता है।" इसके थोड़े ही दिनों बाद सर फिलिप की मृत्यु हो गई थी। एक डैनिश घायल सिपाही ने भी एक बार इसी प्रकार का बल्कि इससे भी बढ़कर स्वार्थ-त्याग किया था। जब वह घायल होकर रण-क्षेत्र में पड़ा था, तब उसके पास ही एक स्वीड भी पड़ा हुआ थी। उस स्वीड ने जब उस डेनिश से उसके पीने की शराब माँगी, तब उसने अपने हाथ की लकड़ी की बोतल उस स्वीड के हाथ में दे दी। कृतघ्न स्वीड ने इसके बदले में अपने परोपकार

करनेवाले पर पिस्तौल छोड़ी जिसकी गोली उस डैनिश के कंधे पर लगी। इस पर उस डैनिश सिपाही ने कहा—"अब मैं तुम्हें दंड दूँगा। पहले मैंने सोचा था कि तुम्हें सारी बोतल दे दूँगा, परंतु अब तुम्हें आधी ही बोतल मिलेगी।"

जिन दिनों स्पेन देश का साहित्य अच्छे अच्छे ग्रंथ-रत्नों से भर रहा था, उन दिनों वहाँ जितने बड़े बड़े कवि और लेखक हुए थे, वे सभी देश अथवा विदेश में जल अथवा स्थल-युद्ध मे लड़े थे। लोपडी वेगा ने अपने बड़े बड़े नाटक लिखने से पहले स्पेनिश बेड़े में काम किया था। करवैंटेस नामक वहाँ के दूसरे बहुत बड़े लेखक को रणक्षेत्र में तीन बड़े बड़े घाव लगे थे। उसका जन्म बड़े ही दरिद्र घर में हुआ था। यहाँ तक कि अभी उसके जन्म के ठीक स्थान और तिथि तक का किसी को पता नहीं लगा है। मरने के समय भी उसके पास एक पैसा न था। किसी को यह भी खबर नहीं है कि वह कहाँ गाड़ा गया था। पुर्तगाल के कैमंस नामक सब से बड़े कवि की भी यही दशा थी। कैमंस बहुत ही वीर योद्धा और उच्च श्रेणी का कवि था। कई युद्धों में उसने बहुत वीरता का काम किया था; और जिब्राल्टर के पास के एक जल-युद्ध में उसकी एक आँख जाती रही थी। इसके थोड़े ही दिनों बाद वह भारत आया था और यहाँ से चीन गया था। जब वह गोआ लौटने लगा, तब मेकन नदी के मुहाने पर उसका जहाज टूटकर डूब गया। जब वह

साधारण पर प्रकट करने का साहस भी न हुआ था। उसका जन्म अच्छे घराने में हुआ था, इसलिये युवावस्था में ही वह सेना में भर्ती हो गया था। पर अपना फुरसत का समय वह गणित और दर्शन-शास्त्र के अध्ययन मे ही बिताया करता था। एक दिन उसने रास्ते में एक विज्ञापन लगा हुआ देखा जो एक ऐसी भाषा में था जिसे वह नही जानता था। बड़े बड़े विद्वान् और गणितज्ञ खड़े होकर वह विज्ञापन देख रहे थे। उसके पूछने पर एक कालिज के प्रिंसिपल ने उसे बतलाया कि इस विज्ञापन में गणित संबंधी एक समस्या दी हुई है। उस प्रिंसिपल को इस बात पर बहुत ही आनंद हुआ था कि एक युवक सैनिक गणित संबंधी बातो को इतने चाव से पूछ और सुन रहा है। डेस्कारटेस ने दूसरे ही दिन सवेरे वह हिसाब लगाकर उस प्रिंसिपल के पास भेज दिया था।

डेस्कारटेस ने तेईस वर्ष की अवस्था मे ही, जब कि वह सेना में काम करता था, यह निश्चय कर लिया था कि जिस प्रकार होगा, मै आधुनिक दर्शन-शास्त्र मे आवश्यक सुधार करूँगा। इसके कुछ ही दिनों बाद उसने सेना की नौकरी छोड़ दी और सारे युरोप में भ्रमण किया। और तदुपरांत उसने दर्शन, गणित तथा दूसरे वैज्ञानिक विषयों का मनन आरंभ किया। तत्कालीन फ्रांसीसी राजा बहुत अत्याचारी थे और विद्वानों को बहुत तंग करते थे, इसलिए वह डरकर हालैंड चला गया। लेकिन दर्शन-संबंधी उसके नए

विचारों के कारण वहाँ के धर्म-पुरोहित भी उसके विरोधी हो गए। तब वह स्वीडन की महारानी का निमंत्रण पाकर स्टाकहोम चला गया और वहीं उसकी मृत्यु हो गई। मरने से पहले उसने तत्कालीन दर्शन-शास्त्र तथा ज्यामिति आदि में बड़ी भारी क्रांति उपस्थित कर दी थी। मापरटियस ने सेना में रहकर ही गणित-शास्त्र का अच्छा अभ्यास किया था। ग्रोज ने भी नैतिक और राजनीतिक विज्ञान का प्रोफेसर बनने से पहले बहुत दिनों तक सेना में काम किया था।

जो युद्ध शत्रुओं से अपने देश की रक्षा करने के लिये किए जाते हैं, वे युद्ध सदा बहुत ही प्रशंसनीय माने जाते और आदर की दृष्टि से देखे जाते हैं। और जो युद्ध दूसरे देशों को जीतने के अभिप्राय से किए जाते हैं, वे सदा बहुत ही निंदनीय और अनुचित समझे जाते हैं। लेकिन इतना होने पर भी प्रायः अपनी रक्षा और लड़ने के पक्ष का समर्थन करने के लिये यह कहा जाता है कि हम यह युद्ध सभ्यता का प्रचार करने के लिये कर रहे हैं। लेकिन युद्ध वही अच्छा होता है जो देशहित के भावों से आरंभ किया जाय। देशहित के सिद्धांत में बहुत ऊँचे ऊँचे विचार और भाव होते हैं। उसमें अपने स्वार्थ का कोई विचार ही नहीं होता, केवल देश हित का भाव भरा रहता है। महाराणा प्रतापसिंह, गुरु गोविंदसिंह और महाराज शिवाजी के प्रति लोगों की इतनी अधिक श्रद्धा और भक्ति क्यों है? इसी लिये कि उनके विचार

मनुष्य स्वयं अपने आपको ही सुखी करने की चिंता में दिन रात लगा रहेगा और दूसरों की ओर से उदासीन रहेगा, वह दूसरों का क्या कल्याण कर सकेगा? देश-हितैषी और जगत्-हितैषी होने के लिये तो इस बात की आवश्यकता है, और प्रत्येक मनुष्य का यह परम कर्त्तव्य भी होना चाहिए, कि वह अपने आपको सारी सृष्टि शृंखला की एक कड़ी समझे और अपने देश के कल्याण का ध्यान रखता हुआ सारे संसार को अपने परोपकार तथा सेवा संबंधी कार्यों का क्षेत्र समझे।

अमेरिका को स्वतंत्र करनेवाले महात्मा वाशिंगटन में देश-हितैषिता, जगत् हितैषिता, वीरता और महानुभावता आदि गुणों का बहुत अच्छा सम्मिश्रण था। वह केवल अपनी प्रतिभा के कारण ही नहीं बल्कि अपने आचारों तथा भावों की शुद्धता और विश्वसनीयता के कारण भी अट्ठारहवीं शताब्दी का एक बहुत बड़ा महात्मा माना जाता है। बाल्यावस्था से ही वह बहुत तत्पर, कर्त्तव्य-परायण और आज्ञाकारी था। इसी कारण उन्नीस वर्ष की अवस्था में वह सेना में एक उच्च पद पर नियुक्त किया गया था और शीघ्र ही वह एक बड़ी सेना का सेनापति बना दिया गया था। उसके जीवनचरित्र से हिंदी के अधिकांश पाठक परिचित होंगे। अतः यहां उसके संबंध की विशेष बातें देने की आवश्यकता नहीं जान पड़ती। यहां केवल इतना कह देना पर्य्याप्त है कि उसके विचार

और उद्देश सदा बहुत ही शुद्ध होते थे और वह अपना कर्त्तव्य पालन करने के लिये पूर्ण रूप से स्वार्थत्याग करने को सदा तैयार रहता था। यही कारण था कि वह अपने देश को स्वतंत्र कर सका था। उसमें सब से बड़ा गुण यह था कि विजय प्राप्त करने पर वह कभी आपे से बाहर नहीं होता था और न परास्त होने पर कभी विचलित होता था। उसका आचरण परम शुद्ध और अनुकरणीय था, देश-हितैषिता के भाव उसमें पूर्ण रूप से विकसित थे और उसके सारे कामों मे सत्यता मिली हुई होती थी। तात्पर्य यह कि उसमे सभी गुण एक से एक बढ़कर प्रशंसनीय और अनुकरणीय थे। अमेरिका के कमांडर इन् चीफ़ के पद से इस्तीफा देते समय कई राज्यों के गवर्नरो को संबोधित करके उसने जो कुछ कहा था, केवल उसीसे उसके सारे गुणों और भावों का परिचय मिल जाता है। उसने कहा था—"मैं परमेश्वर से सदा यही प्रार्थना करता हूँ कि वह आप लोगों को तथा जिन राज्यों के आप शासक हैं, उन राज्यों को सदा अपने पवित्र संरक्षण में रक्खे। वह सर्वसाधारण में अपने देश की सरकार के प्रति अधीनता और आज्ञाकारिता के भावों को विकसित करे, सब लोगों में परस्पर भ्रातृ-प्रेम को जाग्रति करे...........और सब से बढ़कर वह हम लोगों को न्याय, दया, मनुष्यत्व, परोपकार तथा शांतिप्रियता की ओर प्रवृत्त करे।" वाशिंगटन के ये विचार कैसे सुंदर, सरल और प्रशंसनीय हैं!

ड्यूक आफ़ वेलिंगटन भी पहले सिरे के कर्त्तव्य-परायण थे। कर्त्तव्य-पालन ही उनके जीवन का मुख्य सिद्धांत था। वे सदा यथाशक्ति अपने देशवासियों की सेवा करने की चिंता में ही रहते थे। पद या प्रतिष्ठा प्राप्त करने की उन्हें कभी कोई लालसा ही नहीं हुई। वे सदा कर्त्तव्यपालन करके ही संतुष्ट हो जाते थे। भारत में भी उन्होंने कुछ दिनों तक बड़ी बड़ी सेनाओं की नायकता की थी और बहुत योग्यतापूर्वक बड़े बड़े प्रांतों का शासन किया था। भारत से लौटकर जब वे इंगलैंड गए, तब वहाँ उन्हें सेना में एक छोटा पद मिला था। इस पर कुछ लोगों ने उनसे कई व्यंग्यपूर्ण बातें कही थीं, उन बातों का उन्होंने केवल यही उत्तर दिया था कि मैंने अपने राजा का नमक खाया है; वे मुझसे जो काम कराना चाहें, वही काम करना मेरा कर्त्तव्य है। अपने देश तथा राजा के वे परम भक्त थे। उनमें साहस भी बहुत अधिक था। आजकल तो सेनापतियों को युद्धक्षेत्र से बहुत दूर और पीछे रहना पड़ता है; लेकिन उन दिनों उन्हें साधारण सैनिकों की तरह रण में प्रत्यक्ष युद्ध करना पड़ता था। त्रिलियानवाला के युद्ध में जब जहाँ आवश्यकता पड़ती थी तब वे तुरंत वहाँ पहुँच जाते थे और सब सैनिकों से आगे बढ़कर वीरतापूर्वक लड़ने लगते थे। एक बार एक युद्ध में उनकी सवारी के दो घोड़े गोलियों से मर गए थे; और एक दूसरे युद्ध में जब वे बहुत से फ्रांसीसी सवारों से घिर गए थे, तब खूब लड़ भिड़कर और हाथ में तलवार

लिए हुए वे साफ बचकर निकल गए थे। एक बार एक दूसरे युद्ध में जब कि चारों तरफ जहाँ तक दृष्टि जाती थी, गोलों और गोलियों की वर्षा हो रही थी, वे बराबर मैदान में डटे रहे। उस समय एक छोटा गोला उनकी टोपी में से होकर निकल गया था। उनमें धैर्य भी असाधारण था। एक बार स्वयं उन सैनिकों ने जो लड़ाई से घबराकर इंगलैंड वापस जाना चाहते थे, बलवा कर दिया था। उस समय सात बड़े बड़े सेनापति युद्ध छोड़कर इंगलैंड जा चुके थे। केवल ड्यूक आफ वेलिंगटन और जनरल कैंपबेल यही दोनों सेनापति रह गए थे। उस समय ड्यूक ने एक एक दिन में एक साथ ही कई कई सेनापतियों का काम किया था। यह बात उस युद्ध की है जो स्पेनवालों की रक्षा के लिये फ्रांसीसियों के साथ सन् १८१० में हुआ था। उस युद्ध में बहुत दिनों तक लड़कर उन्होंने फ्रांसीसियों को मार भगाया था और स्पेन की राजधानी मेड्रिड में जाकर प्रवेश किया था। उस समय स्पेनिश सेनापति मिरैंडा के साथ तो ४३ एडीकांग थे, लेकिन जिस समय ड्यूक ने मेड्रिड में प्रवेश किया था, उस समय उनके साथ केवल एक अफसर लार्ड सोमरसेट थे! वेलिंगटन जिस देश पर विजय प्राप्त करके आगे बढ़ते थे, उस देश की प्रजा के साथ भी बहुत ही उत्तम और मनुष्योचित व्यवहार करते थे। स्पेनवालों को उस समय अँग्रेज सैनिकों की अपेक्षा स्वयं अपने ही देश के सैनिकों से

प्रयत्न करते थे, उसका उन पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ता था। वेलिंगटन की निष्पक्षता, सत्यता, न्यायपरायणता और स्वार्थत्याग की वे सदा प्रशंसा करते थे। वे अपने अधीनस्थ कर्मचारियों को बहुत ही कम दंड दिया करते थे और प्रायः उन्हें क्षमा कर देते थे। यदि कोई अफसर कोई ऐसा अपराध करता कि जिसके कारण वह सैनिक न्यायालय के सपुर्द कर दिया जा सकता था, तो वे प्रायः उस अपराधी अफसर से इस्तीफा दिलवा देते थे। वे कहते थे कि ऐसे मनुष्य के दोषों का संसार के सामने प्रकट होना उतना अच्छा नहीं है जितना कि उसका अपने पद से हट जाना अच्छा है। एक बार एक सार्जट ने, पहले जिसका आचरण बहुत अच्छा था, एक स्त्री के फेर में पड़-कर अपना काम छोड़ दिया था। वह अपने साथ फौज के वेतन के कुछ रुपए भी ले गया था। ड्यूक ने उसे केवल क्षमा ही नहीं कर दिया बल्कि पीछे उसके आचरणों से सतुष्ट होकर उसे सेना में फिर अच्छा पद दिलवा दिया। वे अपने अधीनस्थ कर्मचारियों के साथ सदा बहुत ही नम्रता का व्यवहार करते थे। हुकूमत जतलाना तो वे कभी जानते ही न थे। सदा सब बातों में वे लोगों से प्रार्थनाएँ ही करते थे। छोटे छोटे अफसरों से वे प्रायः कहा करते थे कि सैनिकों के साथ कभी कठोर शब्दों का व्यवहार न करना चाहिए; क्योंकि इससे उनका दिल तो दुख सकता है,

परंतु और कोई लाभ नहीं हो सकता। वे अपने सैनिकों के साथ सच्ची और हार्दिक सहानुभूति रखते थे। एक युद्ध में जब उन्हें यह मालूम हुआ कि एक ही रात में दो हजार सैनिक कट गए, तब उनकी आँखों से आँसू निकल आए। १८ जून को जब वाटर्लू के युद्ध में मरे हुए लोगों की सूची उन्हें सुनाई गई थी, तब भी उनकी यही दशा हुई थी। उस दिन उन्होंने अपने एक मित्र को एक पत्र लिखा था जिसमें इन्हीं मनुष्य-हानि पर बहुत ही दुःख प्रकट किया था और कहा था कि मैं ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि वह इस प्रकार के युद्धों से मुझे बचावे; क्योंकि इतने पुराने साथियों के बिछुड़ जाने से मेरा दिल बिलकुल टूट गया है। लार्ड एब-डॉन से उन्होंने कहा था कि इस प्रकार की विजय से मुझे कुछ भी संतोष नहीं होता, मुझे कुछ भी शांति नहीं मिलती। यह बात उस समय की है जब कि उन्होंने एक बहुत बड़ी विजय प्राप्त की थी। जब वे घोड़े पर सवार होकर रणक्षेत्र में से जा रहे थे, तब घायल सैनिकों का रोना चिल्लाना सुनकर उन्होंने कहा था कि केवल हार को छोड़कर जीत से बढ़कर भयानक और कोई बात नहीं हो सकती।

ड्यूक बड़े ही सज्जन पुरुष थे। उन्होंने स्पैनिश लोगों की रक्षा स्वयं स्पैनिश सैनिकों से ही की थी। वे समय समय पर अपने शत्रुओं की भी रक्षा करते थे। टैलावेरा के युद्ध के उपरांत फ्रांसीसी सैनिक स्वयं अपने ही घायलों के प्राण

लेने लग गए थे। उन्हें उस भीषण काम से रोकने के लिये एक बार अँगरेज सैनिकों से उन्हें भिड़ जाना पड़ा था। जिस समय फ्रांसीसी सनिक पुर्त्तगाल में पीछे हट रहे थे, उस समय ड्यूक ने यह कह दिया था कि जो लोग फ्रांसीसी कैदियों को जीवित ही मेरे पास पकड़ लावेंगे, उन्हें मैं प्रत्येक कैदी के लिये दो गिनी इनाम दूँगा। शत्रुओं के जीवन की रक्षा का यह विचार बहुत ही मर्मस्पर्शी है। उनकी इस आज्ञा को सुनकर अनेक फ्रांसीसी अफसरों की आँखों में भी आँसू भर आए थे। अपने जीवन में इस प्रकार की दया के उन्होंने और भी सैंकड़ों काम किए थे। वाटर्लू के युद्ध में जब ड्यूक खड़े हुए दूर से फ्रांसीसी सेना का संघठन देख रहे थे, तब एक अफसर ने आकर उन्हें इशारे से वह स्थान दिखलाया जहाँ नैपोलियन अपने कई साथी अफसरों को लिए हुए खड़ा था। अफसर ने ड्यूक से कहा था कि यदि आप चाहें तो सहज में ही उस स्थान तक पहुँचकर नैपोलियन और उसके साथियों को मार सकते हैं, इस पर ड्यूक ने उत्तर दिया—"नहीं, कदापि नही। किसी बड़े युद्ध में बड़ी बड़ी सेनाओं के सेनापतियों का यह काम नही है कि परस्पर एक दूसरे पर गोलियाँ चलावें।" पुर्त्तगाल मे भी एक बार ऐसा ही हुआ था। एस्लिग के प्रिंस ने अँगरेजी सैनिकों और तोपखानों को देखना चाहा था, इसलिये वे एक अँगरेजी तोपखाने से थोड़ी दूर पर एक बाग

में आ पहुँचे और उनकी दीवार पर दूरबीन लगाकर तोप-खाना देखने लगे। अंगरेज अफसरों ने भी उन्हें इस अवस्था में देख लिया। यदि वे चाहते तो उसी समय बंदूकें गोले छोड़कर इन्हें तथा उनके साथियों को वहीं ढेर कर देते। लेकिन उन्होंने ऐसा न करके प्रिंस को सचेत करने के लिये केवल एक गोला छोड़ा। यह गोला निशाना साधकर छोड़ा गया था, इसलिये वह दीवार में ठीक उसी जगह लगा जहां प्रिंस दूरबीन लिए खड़े हुए थे। प्रिंस और उनके साथी सेनापति इस सज्जनोचित सूचना को समझ गए और तोपखाने को सलाम करते हुए वहां से हट गए।

जिस समय वाटर्लू के युद्ध में नेपोलियन पराजित हो गया, उस समय कुछ लोग यह चाहते थे कि वह मार डाला जाय। वेलिंगटन ने इसका घोर विरोध किया था और कहा था कि ऐसा काम हम लोगों के लिये बहुत ही अपमान-जनक होगा, और लोग कहेंगे कि अंगरेज लोग इस योग्य नहीं थे कि नेपोलियन पर विजय प्राप्त करते। सर चार्ल्स स्टुअर्ट को उन्होंने जो पत्र लिखा था, उसमें भी उन्होंने नेपोलियन की हत्या का बहुत विरोध किया था और अंत में लिखा था कि यदि यूरोप के बड़े बड़े शासक नेपोलियन को मार ही डालना चाहें तो वे यह काम किसी हत्यारे के सपुर्द करें; मैं इसमें कभी हाथ नहीं डालूँगा। वेलिंगटन के

ये विचार उस नैपोलियन के जीवन की रक्षा के लिये थे नैपोलियन दस हजार फ्रैंक ऐसे आदमी को दे सकता था जो ड्यूक आफ वेलिंगटन की हत्या करने की केवल चेष्टा करता !

ड्यूक बड़े ही सच्चे आदमी थे और वे सदा यही चाहते थे कि हमारे अधीनस्थ कर्मचारी भी बराबर सच्चे बने रहें। वे किसी प्रकार की रिश्वत लेना बड़ा भारी पाप समझते थे और धमकियों से कभी डरते नहीं थे। एक बार जब वे एक बड़े पद से दूसरे छोटे पद पर नियुक्त किए गए थे, तब उन्होंने कहा था कि मुझे जिस बात की आज्ञा दीजिए, मैं उसी का पालन करूँगा। उन्हे कभी अपना कुछ भी ध्यान न रहता था और दूसरों का सदा पूरा पूरा ध्यान रहता था। ईर्ष्या-द्वेष से भी वे सदा अलग रहते थे। वे कभी अपनी कीर्त्ति बढ़ाने के लिये दूसरों का महत्व न घटाते थे। उन्हें अपनी मान-मर्यादा का जितना ध्यान रहता था, उससे कहीं अधिक अपने अधीनस्थ कर्मचारियों की मान-मर्यादा का ध्यान रहता था। यदि कभी कोई भूल हो जाती थी तो वे उसका सारा उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लेते थे। और यदि कोई अच्छा काम होता था तो उसमें अपना बड़प्पन नहीं समझते थे, बल्कि उसे ईश्वर की कृपा का फल मानते थे। मेड्रिड् की म्यूनिसिपैलिटी ने जब उन्हें बधाई दी थी तब उन्होंने कहा था कि युद्ध का फलाफल ईश्वर के हाथ है।

सातवाँ प्रकरण

सत्कर्म करने में वीरता

केवल युद्ध-क्षेत्र में वीरतापूर्वक लड़ मरना ही सबसे बढ़कर वीरता नहीं है। युद्ध-क्षेत्र में जहाँ बराबर मार-काट होती रहती है, बहुत से दुर्बल मनुष्य भी वीरता का काम कर जाते हैं और अपने देश के उद्धार के लिये प्राण दे देते हैं। ऐसे लोग अवश्य पूजनीय होते हैं। परंतु इसके अतिरिक्त एक और प्रकार की वीरता है जो इससे कहीं बढ़कर श्रेष्ठ है। वह वीरता आत्मबल संबंधी है जिसमें ऊँचे दरजे की सत्यता और स्वार्थत्याग की आवश्यकता होती है। जिस मनुष्य में यह वीरता होती है, वह बहुत बड़ा महात्मा और उच्च आशयोंवाला मनुष्य होता है और सत्य के लिये अपने प्राण तक अर्पित कर सकता है।

मनुष्य का जन्म केवल कीर्त्ति, प्रसिद्धि या सफलता प्राप्त करने के लिये ही नहीं है बल्कि इससे भी बढ़कर किसी अच्छे काम के लिये है। जरमी टेलर ने कहा है कि परमेश्वर ने इस संसार में मनुष्य को बहुत ही थोड़ा समय दिया है; लेकिन फिर भी इसी थोड़े समय पर ही उसकी अमरता निर्भर करती है। हमें इस बात का सदा ध्यान रखना चाहिए कि

संसार में ऐसे बहुत से शत्रु हैं जिन पर हमें विजय प्राप्त है, बहुत से ऐसे पाप या दोष हैं जिन्हें रोकना है, बहुत से ऐसे संकट हैं जिन्हें पार करना है, बहुत सी ऐसी कठिनाइयाँ हैं जिन पर विजय प्राप्त करना है, बहुत सी ऐसी आवश्यकताएं हैं जिन्हें पूर्ण करना है और बहुत से ऐसे अच्छे काम हैं जिन्हें कर दिखाना है।

आत्म त्याग संसार के सभी कार्यों और सभी धर्मों का मूलमंत्र है। संसार में आज तक जितने महात्मा, जितने परोपकारी और जितने बड़े काम करनेवाले लोग हुए हैं वे सदा आत्मत्यागी ही रहे हैं। उन्होंने सदा दूसरों के उपकार के लिये अपने आपको समर्पित कर दिया है और कभी किसी प्रकार की कीर्ति या प्रसिद्धि का ध्यान नहीं रखा। वे केवल अपने कर्त्तव्य का पालन करके ही परम सुखी, संतुष्ट और धन्य हुए हैं। बहुत से लोग तो ऐसे भी हो गए हैं जिन्होंने दूसरों के उपकार के लिये बहुत बड़े बड़े काम किए हैं, पर वे "धन्य" कहलाने से पहले ही इस संसार से चल चुके हैं।

संसार में कोई ऐसी चीज नहीं है जो अनावश्यक हो। यह बात दूसरी है कि हम उसकी आवश्यकता न समझ सकें। और न जीवन की कोई ऐसी घटना है जिसका कुछ भी महत्व न हो। यहाँ तक कि विपत्ति भी मनुष्य के गुणों की बहुत बड़ी कसौटी है। जर्मनी के एक बहुत बड़े कवि ने कहा है कि जिसने रो रोकर भोजन नहीं किया है और रो

रोकर रातें नहीं बिताई हैं, वह ईश्वरी शक्ति को बिलकुल नहीं जान सकता। दुःखदायी घटनाएँ कदाचित् केवल इसी लिये होती है कि जिसमे मनुष्य की परीक्षा हो और वह अपनी योग्यता तथा गुण प्रमाणित कर दिखलावे। यदि हम विपत्ति के समय बराबर दृढ़तापूर्वक काम करते जायँ, तो उससे हमारे चित्त को बहुत बड़ी शांति मिलती है; और यदि उस दशा में हम अपने कर्त्तव्य का पालन करते रहें तो उससे हमे बहुत बड़ा संतोष प्राप्त होता है।

जो लोग कुछ काम करते हों अथवा करना चाहते हों, उन्हे सत्कर्म करने के सैकड़ों हजारो अवसर मिल जाते हैं। ऐसे लोग दूसरों का दुःख दूर करने के लिये आपसे आप प्राण देने के लिये तैयार हो जाते हैं। वे जाकर दरिद्रो की सहायता करते हैं, रोगियों की सेवा करते हैं और अनाथों की रक्षा करते हैं, और अपनी इस सेवा के बदले में कुछ भी नहीं चाहते। एथेंस नगर में एक बार बहुत जोरों का प्लेग फैला था। उस समय वहाँ के लोगों ने क्रीट के एपीमेनाइड्स नामक एक तत्ववेत्ता और कवि को लोगों की सेवा शुश्रूषा के लिये अपने यहाँ बुलाया था। उसने तुरंत एथेंस जाकर वहाँ-वालों का कष्ट दूर करने के लिये बहुत बड़ा काम किया; और जब इसके बदले में एथेंसवालों ने उसे कुछ पुरस्कार देना चाहा, तब उसने केवल यही कहा कि आप लोग मेरी जन्म-

भूमि के लोगों पर कृपा रखें, बस यही मेरे लिये सबसे बड़ा पुरस्कार है।

प्राचीन काल में प्लेग का रूप बहुत भयंकर हुआ करता था और आजकल की अपेक्षा उन दिनों लोग उस बीमारी से बहुत डरते और दूर भागते थे। यहाँ तक कि लोग अपने संबंधी रोगियों को भी मृत्यु-मुख में छोड़कर चल देते थे। तीन सौ वर्ष से कुछ ऊपर हुए कि इटली के मिलान नगर में बहुत भयंकर प्लेग फैला था। उस समय लोम्बो नामक स्थान के प्रधान पादरी बोरोमियो ने वहाँ पहुँचकर बहुत काम किया था। जिस समय वह मिलान जाने लगा, उस समय उसके अधीनस्थ एक पादरी ने उसे वहाँ जाने से मना किया। इस पर उसने उत्तर दिया कि प्रधान पादरी का यह कर्त्तव्य है कि वह सर्वसाधारण के लिये अपने प्राण तक दे दे। ऐसी दशा में भयंकर कष्ट के समय में उन्हें नहीं छोड़ सकता। इस पर उस पादरी ने कहा—हाँ, कष्ट के समय लोगों का साथ देना है तो बहुत अच्छी बात। बोरोमियो ने कहा कि जो बात अच्छी है, क्या उसका करना मेरा कर्त्तव्य नहीं है? चार महीने तक मिलान में प्लेग का प्रकोप रहा। इस बीच में वह बराबर लोगों के घरों और अस्पतालों तक में जा जाकर रोगियों की सेवा-शुश्रूषा किया करता था, उन्हें औषध और पथ्य देता था और यदि वे मर जाते थे तो उनके अंतिम संस्कार भी कराता था। उसके जिस सहायक पादरी ने उसे पहले मिलान

जाने से मना किया था, वह भी उत्साहित होकर उसके साथ ही मिलान गया था और बराबर उसकी सहायता किया करता था। इसी बीच में उस पादरी ने मिलान के दरिद्र बालकों के लिये एक पाठशाला भी खोल रखी थी जिसमें रवि-वार के दिन वह उन्हें पढ़ाया करता था। वह स्वयं गलियों में जाकर लड़कों को बुला लाया करता था और गिरजा में ले जाकर दोपहर के समय पढ़ाया करता था। यह बात सन् १५७६ की है। इस बात को आज प्रायः साढ़े तीन सौ वर्ष बीत गए, लेकिन कार्डिनल बोरोमियो की रविवारवाली पाठ-शाला आज तक वहाँ के गिरजे में चल रही है और अब तक उसमे बालक शिक्षा पाते हैं।

सन् १६६५ मे लंदन मे भी बहुत भीषण रूप से प्लेग फैला था। उस समय लंदन की आबादी सिर्फ छः सात लाख थी जिसमे से एक लाख आदमी मर गए थे। लंदन के अतिरिक्त आसपास के गाँवों में भी यह रोग फैलने लगा। उस समय यार्क के बिशप मार्टन ने भी बहुत बड़ा काम किया था। उसने अपना निज का एक अस्पताल खोल रखा था जिसमें वह दरिद्रों को लाकर रखता और उनकी चिकित्सा करता था। इस काम में उसे सहायता देने के लिये भी कोई खड़ा न होता था। वह प्रायः अकेला ही सब काम किया करता था। जब रोगियों के लिये भोजन की आवश्यकता होती थी, तब वह घोड़े पर सवार होकर

अपने खेत में चला जाता था और उसी घोड़े पर अनाज के बोरे लादकर ले आता और ले जाता था। वह अपने सेवकों तक को केवल इसी विचार से रोगियों से दूर रखता था कि जिसमें वे भी बीमार न हो जायँ। वह अपने हाथ से घोड़े की ज़ीन कसता और खोलता था और केवल इसी लिये एक गुलज़ार में आया जाया करता था कि जिसमें दूसरों के साथ उसका संसर्ग न हो और रोग अधिक न फैले। लंदन में डाक्टर डाउन नामक एक महात्मा ने भी बहुत बड़ा काम किया था। वह बिना फीस लिए हुए रोगियों को देखा करता था, इसी लिये वह दरिद्र हो गया था और उस पर कुछ ऋण भी हो गया था। इस ऋण के लिये उसे सजा हो गई थी और सन् १८८८ ई० में जेल में ही उसकी मृत्यु हो गई! धन्य हैं ऐसे लोग जो परोपकार करके स्वयं इस प्रकार स्वार्थ त्याग करते हैं और अपनी विपत्तियों को तुच्छ समझते हैं।

बड़े बड़े डाक्टरों ने जिस प्रकार शांतिपूर्ण नगरों में दरिद्रों के घर में जा जाकर उनकी सेवा शुश्रूषा की है, उसी प्रकार युद्धक्षेत्र में भी अपने कर्त्तव्य का पालन किया है। बहुत से ऐसे डाक्टर हो गए हैं जो गोलों और गोलियों की वर्षा में से घायलों को उठा लाते थे और उनकी सेवा-शुश्रूषा करते थे। फ्रेंच सरजन लैरी इस विषय में आदर्श कहे जा सकते हैं।

जिस समय फ्रांसीसी सेना मास्को से पीछे हट रही थी, उस समय वे बराबर युद्ध के समय अपना काम किया करते थे। उनके पास केवल एक बड़ा लबादा था जिससे वे रोगी को पड़नेवाली बरफ से बचाते थे। मिस्र में भी उन्होंने इसी प्रकार बहुत अच्छा काम किया था। वहाँ फ्रांसीसी सेना की अँगरेजों के साथ मुठभेड़ हो रही थी। घायलों में जेनरल सिली भी थे जिनके घुटने मे गोली लगी थी। लैरी ने देखा कि यदि जनरल महाशय का पैर तुरंत न काट दिया जायगा तो संभव है कि शीघ्र ही उनकी मृत्यु हो जाय। इसलिये वहीं युद्धक्षेत्र में उन्होंने जनरल सिली का पैर काटना निश्चित किया। जनरल ने भी अपना पैर कटाना मंजूर कर लिया। रणक्षेत्र में जहाँ चारों ओर से गोलियाँ और गोले बरस रहे थे, लैरी ने केवल तीन मिनट के अंदर जनरल का पैर काट डाला। लेकिन इतने में ही अँगरेजी सेना पास आ पहुँची। उस समय लैरी को अपनी तथा अपने रोगी की बड़ी चिंता हुई। उन्होंने एक स्थान पर लिखा है—"उस समय मुझे इतना भी समय न मिला कि मैं घायल जनरल को उठाकर अपने कन्धों पर रखता। लेकिन फिर भी मैं जैसे तैसे उन्हें कन्धे पर लादकर अपनी सेना की ओर दौड़ा जो उस समय पूरी तेजी के साथ भाग रही थी। मैं बहुत सी खाइयों में से होकर जाने लगा। उन खाइयों में बहुत सी कँटीली झाड़ियाँ लगी हुई थीं। इसलिये

मैं तो उस ओर से निकल गया, पर अंगरेज सैनिकों को दूसरे रास्ते से चक्कर काटकर आना पड़ा। इस प्रकार मैं घायल अफ़सर को लेकर अलेकज़ेंड्रिया पहुँच गया और वहाँ जाकर मैंने अपने रोगी को चंगा किया।"

गदर के दिनों में काशी में डाक्टर के नामक सर्जन थे जिन्होंने अपनी जान को जोखिम में डालकर अपने कर्त्तव्य का पालन किया था। बागी लोग स्वयं उनकी तथा उनके रोगियों की हत्या करने के लिये आ गये थे, लेकिन डाक्टर के. ने अपनी भी जान बचाई और अपने रोगियों की भी।

युद्ध-क्षेत्र में केवल पुरुष ही नहीं बल्कि स्त्रियाँ भी घायलों की सेवा-शुश्रूषा और देखरेख का काम बहुत ही प्रशंसनीय रूप से करती हैं। स्त्रियों को इस काम में प्रवृत्त करनेवाली सुप्रसिद्ध देवी मिस नाइटिंगेल हैं। यह उन्हीं की कृपा का फल था कि लोग इस बात को समझने लगे कि घायलों की सेवा शुश्रूषा करना एक ऐसा काम है जिसके लिये बहुत कुछ शिक्षा, समझदारी, योग्यता, परोपकारिता और प्रेम की आवश्यकता होती है। मिस नाइटिंगेल ने केवल प्रेम और कर्त्तव्य-ज्ञान के कारण ही सेवा-शुश्रूषा का काम आरंभ किया था। वे स्वयं बहुत धनाढ्य थीं और उन्हें इस बात की कोई आवश्यकता नहीं थी कि वे यह कठिन और अप्रिय कार्य अपने हाथ में लेतीं। वे अपने घर में सब प्रकार से सुखी थीं और उन्हें किसी बात की कमी नहीं थी। लेकिन

उन्होंने सब प्रकार के सुखों का त्याग करके स्वेच्छापूर्वक दुःख और कष्ट के मार्ग का अवलंबन किया। वे पाठशालाओं में पढ़ाती थीं और बराबर दीन दुखियों के यहाँ जाया आया करती थीं। जब कोई दरिद्र बीमार पड़ता था, तब वे उसकी सेवा-शुश्रूषा करती थीं और उसे औषध तथा पथ्य देती थीं। यदि वे चाहतीं तो अपने जैसी दूसरी अमीर स्त्रियों की तरह ही आनंद-मंगल में अपना सारा जीवन बिता सकती थीं। लेकिन उनका हृदय ऐसा करने की गवाही नहीं देता था। उन्हें दीनों और दुखियों के कष्ट दूर करने में ही सब से अधिक आनंद मिलता था। जिन दिनों बड़े घरों की और और स्त्रियाँ सुंदर सुंदर देशों में सैर करने के लिये निकल जाती थीं, उन दिनों वे अस्पतालों और जेलखानों में जाकर दुखियों का दुःख दूर किया करती थीं। रोगियों की सेवा-शुश्रूषा करने के लिये उन्होंने कपड़े धोना तक सीखा था। पहले पहल लगातार तीन महीने तक रोगियों के पास रहकर उन्होंने इस बात का बहुत अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया था कि रोगियों की सेवा किस प्रकार की जाती है।

रोगियों की सेवा-शुश्रूषा की यह शिक्षा मिस नाइटिंगेल ने जरमनी में प्राप्त की थी। जब वे जरमनी से इंगलैंड लौटीं, तब उन्होंने देखा कि वहाँ की स्त्रियों का एक अस्पताल किसी अच्छे प्रबंध करनेवाले के अभाव के कारण बंद होना

के तुल्य उनका आदर करते थे। जिस घायल की अस्त्र-चिकित्सा मिस नाइटिंगेल के सामने होती थी, वह अपना सारा दुःख, सारी व्यथा भूल जाता था। वे केवल वहीं रह-कर उनके सुख की व्यवस्था ही नहीं करती थीं, बल्कि उनकी ओर से उनके मित्रों और संबंधियों आदि से पत्रव्यवहार तक करती थीं।

अच्छे उदाहरणों का सदा अच्छा ही परिणाम हुआ करता है। मिस नाइटिंगेल की देखा देखी बहुत सी स्त्रियाँ उनके साथ इस काम में लग गईं थीं। बहुत सी स्त्रियों ने केवल स्वयं ही सेवा-शुश्रूषा करना नहीं सीखा था बल्कि और भी बहुत सी दूसरी स्त्रियों को यह काम सिखलाया था और आगे चलकर देश विदेश के दूसरे अनेक युद्धों में भी बहुत अच्छा काम किया था। इन स्त्रियों में मिस् फ्लोरेंस लीस विशेष उल्लेख योग्य है। उनके इस कार्य में प्रवृत होने का एक बहुत ही विलक्षण कारण था। उनका एक भाई था जो चीन के शंघाई नामक स्थान के नाविक अस्पताल में मर गया था। मिस् लीस ने सोचा कि कुछ अजनबी लोगों ने जिस प्रकार अंतिम समय में मेरे भाई की सेवा और सहायता की थी, उसी प्रकार मैं भी दूसरों की सहायता क्यों न करूँ। उस समय उनकी अवस्था बहुत ही कम थी जिसके कारण एक पादरी ने उनसे कहा था कि अभी तुम्हारा मन दुखी और अपरिपक्व है; इसलिये अभी तुम कुछ दिनों तक ठहर जाओ

चाहता है। इस पर उन्होंने उसकी देखरेख का सारा काम अपने ऊपर ले लिया। इस अस्पताल में उन्हें दिन रात कठिन परिश्रम करना पड़ता था जिसके कारण थोड़े ही दिनों में स्वयं उनका स्वास्थ्य बिगड़ गया। लेकिन हाँ इतना अवश्य हुआ कि उनके परिश्रम से यह अस्पताल बंद होने से बच गया। स्वास्थ्य बिगड़ जाने के कारण वे वायुपरिवर्तन के लिये एक दूसरे स्थान पर चली गईं। उन दिनों क्रीमिया का प्रसिद्ध युद्ध बड़े ही भीषण रूप से हो रहा था और उसमें योग्य दाइयों की बहुत बड़ी आवश्यकता थी। बहुत से घायल सैनिक बासफोरस के अस्पतालों में पड़े हुए थे और वहाँ उनकी देखरेख करनेवाला कोई न था। जब उन्हें यह बात मालूम हुई तब वे चटपट एक जहाज पर सवार होकर स्कुटारी की ओर चल पड़ीं। इस यात्रा में बहुत सी कठिनाइयाँ और विपत्तियाँ थीं। लेकिन जिसका हृदय दूसरों के कष्टनिवारण के लिये व्याकुल हो, वह विपत्तियों और कठिनाइयों की क्या परवाह कर सकता है। उन्होंने युद्ध-क्षेत्र में पहुँचकर घायल सिपाहियों और नाविकों की बहुत अच्छी सेवा की और सेवाकर्म की बहुत ही उत्तम रूप से व्यवस्था की। उनके कामों से घायलों के हृदय पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ता था। रात के समय जब वे घायलों को देखने जाती थीं, तब वे लोग शुद्ध हृदय से ईश्वर से उनके कल्याण के लिये प्रार्थना करते थे और देवियों

के तुल्य उनका आदर करते थे। जिस घायल की अस्त्र-चिकित्सा मिस नाइटिंगेल के सामने होती थी, वह अपना सारा दुःख, सारी व्यथा भूल जाता था। वे केवल वहीं रह-कर उनके सुख की व्यवस्था ही नहीं करती थीं, बल्कि उनकी ओर से उनके मित्रों और संबंधियों आदि से पत्रव्यवहार तक करती थीं।

अच्छे उदाहरणों का सदा अच्छा ही परिणाम हुआ करता है। मिस नाइटिंगेल की देखा देखी बहुत सी स्त्रियाँ उनके साथ इस काम में लग गई थीं। बहुत सी स्त्रियों ने केवल स्वयं ही सेवा-शुश्रूषा करना नहीं सीखा था बल्कि और भी बहुत सी दूसरी स्त्रियों को यह काम सिखलाया था और आगे चलकर देश विदेश के दूसरे अनेक युद्धों में भी बहुत अच्छा काम किया था। इन स्त्रियों में मिस् फ्लोरेंस लीस विशेष उल्लेख योग्य हैं। उनके इस कार्य में प्रवृत होने का एक बहुत ही विलक्षण कारण था। उनका एक भाई था जो चीन के शंघाई नामक स्थान के नाविक अस्पताल में मर गया था। मिस् लीस ने सोचा कि कुछ अजनबी लोगों ने जिस प्रकार अंतिम समय में मेरे भाई की सेवा और सहायता की थी, उसी प्रकार मैं भी दूसरों की सहायता क्यों न करूँ। उस समय उनकी अवस्था बहुत ही कम थी जिसके कारण एक पादरी ने उनसे कहा था कि अभी तुम्हारा मन दुखी और अपरिपक्व है; इसलिये अभी तुम कुछ दिनों तक ठहर जाओ

वे तुरंत कालोन नामक स्थान में पहुँचीं जहाँ उन्होंने रेल्वे स्टेशन के प्लैटफार्म पर सैकड़ों घायल सैनिकों को देखा। वहाँ से वे और दो एक स्थानों में ऐसा ही दृश्य देखती हुई मेज़ नामक स्थान में पहुँचीं। इस यात्रा में भीड़ भाड़ में उनका सारा असबाब खो गया था और उनके पास कुछ भी न बच गया था। वहाँ पहुँचते ही उनकी नियुक्ति एक ऐसे स्थान पर हो गई जहाँ किसी प्रकार का सुभीता नहीं था। न तो रहने का कोई प्रबंध था, न यथेष्ट औषधियाँ थीं और न यथेष्ट भोजन ही था। खाइयों की सीड़ के कारण प्रायः सैनिकों को ज्वर हो जाता था। जब सैनिक लोग बीमार होकर मिस लीस के पास लाए जाते थे, तब उनके पैरों में खूब धूल कीचड़ लगा रहता था। उन्हें पहले उन रोगियों के पैर बहुत अच्छी तरह से धोकर साफ करने पड़ते थे और तब उन्हें दवा दी जाती थी। इसके अतिरिक्त और भी कठिन कार्य करने पड़ते थे; और विशेषता यह थी कि सामग्री भी यथेष्ट नहीं मिलती थी। रोगी सैनिक वायु की झोंक में बहुत कुछ उपद्रव करते थे। दो बार ऐसा हुआ कि रात के समय अस्पताल में अकेले ही रहने के कारण उन्हें बड़ी विपत्ति का सामना करना पड़ा। पर उन सब कठिनाइयों की उन्होंने कुछ भी परवा न की और अपना काम बराबर जारी रखा। कुछ दिनों बाद वहीं से वे एक दूसरे स्थान पर भेज दी गईं। वहाँ भी इसी प्रकार की कठिनाइयों का सामना करके उन्होंने अच्छा

काम कर दिखलाया। जर्मनी से लौटने के उपरांत वे अमेरिका के अस्पतालों का निरीक्षण करने भी गई थीं, और अंत में वेस्टमिनिस्टर नर्सिंग एसोसियेशन की डाइरेक्टरेस् बना दी गई थीं।

जिन लोगों का हृदय दूसरों के दुःख से व्याकुल हो जाता है, वे स्वेच्छापूर्वक बहुत सी कठिनाइयां सहने के लिये तैयार हो जाते हैं; और जिस प्रकार होता है, वे दूसरों के कष्ट दूर करते हैं। ऐसे लोग छोटे से छोटा और तुच्छ से तुच्छ काम करने में भी कभी घृणा या ग्लानि अनुभव नहीं करते। ऐसे लोग धनवानों की अपेक्षा प्रायः दरिद्रों में ही अधिक होते हैं। बात यह है कि एक दरिद्र किसी दूसरे दरिद्र के कष्टों का जैसा अच्छा अनुमान और अनुभव कर सकता है, वैसा अनुमान और अनुभव कोई धनवान सहज में नहीं कर सकता। एक दरिद्र को अपने पड़ोसी दूसरे दरिद्र के साथ जितनी अधिक और जैसी हार्दिक सहानुभूति होती है, उतनी अधिक और वैसी हार्दिक सहानुभूति एक धनवान के मन में किसी दरिद्र के प्रति नहीं हो सकती। एक भिखमंगे ने एक बार कहा था कि मुझे गलियों में घूमनेवाली दरिद्र बालिकाओं से जितने पैसे मिलते हैं, उतने किसी दूसरे वर्ग के लोगों से नहीं मिलते। बहुत ही साधारण स्थिति के लोग प्रायः परोपकार के काम किया करते हैं जिनका परिचय केवल आसपास के

बहुत ही थोड़े लोगों को हुआ करता है। उनका कीर्त्तिसौरभ दूर तक पहुँचने नहीं पाता।

इस अवसर पर हम अपने देश के रत्न स्वर्गीय पं० ईश्वरचंद्र विद्यासागर के विषय की कुछ बातें दिए बिना नहीं रह सकते। पंडित जी का जन्म एक बहुत ही दरिद्र परंतु उच्च कुल में हुआ था। परंतु परोपकारिता और लोक-सेवा का भाव उनमें बाल्यावस्था से ही पूर्ण मात्रा में विद्यमान था; और आगे चलकर उनके द्वारा सहस्रों परिवारों का बहुत बड़ा उपकार हुआ था और सहस्रों विद्यार्थी पढ़ लिखकर बहुत अच्छी स्थिति तक पहुँचे थे। उनमें सबसे बड़ा गुण तो यह था कि वे सदा यही चाहते थे कि हमारा दिया हुआ दान अथवा किया हुआ परोपकार कोई दूसरा न जाने। यहाँ तक कि वे जिसे दान दिया करते थे अथवा जिसके साथ उपकार किया करते थे, उस पर भी वे अपने आपको प्रकट नहीं करना चाहते थे। कहते हैं कि एक बार उन्होंने रास्ते में देखा कि एक आदमी रोता हुआ चला जा रहा है। उनके बहुत पूछने पर उस आदमी ने कहा कि मेरे पूर्वजों का वह मकान जिसमें मैं सपरिवार रहता हूँ, आज नीलाम होने को है। मुझपर २३००) रु० की डिगरी है और मेरे पास कुछ भी नहीं है। विद्यासागर जी ने तुरंत कचहरी जाकर उस आदमी के नाम से २३००) रुपए जमा कर दिए। जब नियत समय के बहुत देर बाद तक भी उस आदमी के घर अमीन न पहुँचा,

तब वह घबराकर यह जानने के लिये कचहरी पहुँचा कि कहीं डिगरीदार कोई नया उपद्रव तो नहीं खड़ा कर रहा है। पर वहाँ पहुँचने पर उसे मालूम हुआ कि मेरे नाम से कोई व्यक्ति अदालत में डिगरी के २३००) रु० जमा कर गया। पहले तो उसे इस बात पर विश्वास ही न हुआ; पर जब उसने उसके संबंध के कागज आदि देखे, तब बहुत देर तक ध्यान करने के उपरांत उसने समझा कि यह रुपए संभवतः उसी बंगाली ने जमा किए हैं जिसने सबेरे मुझसे रोने का कारण पूछा था। तब वह ईश्वरचंद्र की तलाश में रहने लगा। कई दिनों बाद जब वे उसे रास्ते में मिले, तब उसने उनके पैर पकड़ लिए और कहा कि महाराज! आपने मेरे साथ बहुत बड़ा उपकार किया। इस पर ईश्वरचंद्र ने कहा कि हाँ, मैंने तुम्हारे साथ उपकार किया है। लेकिन जो तुम्हारे साथ उपकार करे, उसका कुछ उपकार तुम्हें भी करना चाहिए। मैं तुमसे केवल यही चाहता हूँ कि तुम इस बात का जिक्र किसी से न करना। वह आदमी भी भला आदमी ही था; इसलिये उसने कहा कि चाहे मैं कृतघ्न ही क्यों न कहलाऊँ, परंतु मुझसे यह कभी न होगा कि मैं आपके इस उपकार का किसी से जिक्र न करूँ।

१८७३ में बंगाल में बड़ा भारी अकाल पड़ा था। उस समय पति अपनी पत्नी को, भाई अपनी बहन को और माता पिता अपने गोद के बच्चों को छोड़कर भागने लगे। लोगों को कष्ट से मुक्त करने के लिये उन्होंने सरकार से लिखा पढ़ी करके

जो कुछ सहायता ली थी, वह तो ली ही थी; इसके अतिरिक्त स्वयं अपना सर्वस्व भी उन्होंने इस पुण्य-कार्य्य में लगा दिया था। उन्होंने अपने खर्च से ऐसे बारह रसोइए और बीस परोसनेवाले नियुक्त किए थे जो दिन रात रसोईं बनाते और भूखों को खिलाते थे। तिस पर विशेषता यह थी कि उनके भोजनागार में सदा एक ही तरह की रसोईं नहीं बनती थी; बल्कि खाने की चीजें प्रायः बदल दी जाती थीं और खानेवालों की रुचि के अनुसार साग-तरकारी आदि भी रहा करती थी। साधारण स्त्रियों को सिर में लगाने के लिये तेल तक दिया जाता था और गर्भवती स्त्रियों के लिये उनकी रुचि के अनुसार भोजन और प्रसव हो जाने के उपरांत दूध और घी आदि का भी अच्छा प्रबंध रहता था। नीच जाति के और गरीब लोगों की आवश्यक सेवाएँ वे स्वयं अपने हाथ से करते थे। उनकी देखादेखी उनके घर के दूसरे लोग तथा नौकर चाकर आदि भी इस काम में लग जाते थे।

सन् १८६६ में जैसोर जिले में भयानक मलेरिया ज्वर आरंभ हुआ। समाचार पाते ही ईश्वरचंद्र दरिद्रों की सेवा और सहायता के लिये वहाँ पहुँच गए। सरकार से लिखा-पढ़ी करके और बर्दवान के महाराज से कहकर उन्होंने उस प्रांत में दरिद्रों की चिकित्सा का बहुत अच्छा प्रबंध कराया और स्वयं अपने व्यय से एक ऐसा अस्पताल खुलवा दिया जिसमें गरीबों की बहुत अच्छी तरह चिकित्सा की जाती थी।

माइकेल की सहायता न करते तो कदाचित् माइकेल जेल चले जाते अथवा बड़ी दुर्दशा से विलायत में ही मर जाते। अपनी इस परोपकार वृत्ति के कारण विद्यासागर प्रायः दरिद्र और ऋणी बने रहा करते थे। बहुत से लोगों ने उनके साथ छल-कपट भी किया था और झूठ बोलकर उनसे बड़ी बड़ी रकमें वसूल की थीं। इसलिये उन्हें लोगों के आचरण से घृणा हो गई थी और उनके स्वभाव में चिड़चिड़ापन आ गया था। जिस मेट्रोपोलिटन कालेज के वे सर्वस्व थे और जिसमें उन्हींकी कृपा से अधिकांश विद्यार्थी बिना फीस के ही पढ़ते थे, उसी मेट्रोपोलिटन कालेज में एक बार उनके पास एक मद्रासी विद्यार्थी अपने घर से भागकर आया था। जब उस विद्यार्थी ने उनसे प्रार्थना की कि आप मेरे पढ़ने लिखने का प्रबंध कर दीजिए, तब उन्होंने बहुत बिगड़कर कहा था कि तुम यहाँ से चले जाओ; तुम्हें जितना ही कष्ट मिले, उतना ही अच्छा है। जो अपने माता पिता को कष्ट दे, उसे अवश्य कष्ट मिलना चाहिए। विद्यार्थी यह सोचता हुआ उनके कमरे से बाहर निकला कि जो आदमी सीधी तरह से बात करना भी नहीं जानता, लोग व्यर्थ ही उसका इतना सम्मान करते हैं। वह चार ही पाँच कदम गया होगा कि विद्यासागर जी ने उसे बुलाकर कहा कि अच्छा तुम अभी अपने पिता को एक पत्र लिख दो कि हम यहाँ बहुत अच्छी तरह हैं और हमारे पढ़ने लिखने

भी बढ़कर वे दयासागर थे। किसी का दुःख सुनते ही उनके सरल और उदार हृदय मे दया का सागर उमड़ आता था। दया करने के समय वे अमीर गरीब, उच्च-नीच, स्त्री-पुरुष, सती-कुलटा का कुछ भी विचार न करते थे। मनुष्य मात्र के लिये, बल्कि कहा जा सकता है कि पशुओं और पक्षियों तक के लिये भी उनके हृदय मे अपूर्व दया और प्रेम था। कौवे बड़े धूर्त्त होते हैं और प्रायः मनुष्यों से दूर रहते हैं; परंतु वे भी बेधड़क विद्यासागर के पास चले जाते थे और उनके हाथ से खाने की चीजें ले जाते थे। एक बार एक भले आदमी को विद्यासागरजी ने खाने के लिये एक नारंगी दी। वह भला आदमी नारंगी की फाँकों का रस चूस चूसकर उन्हें फेकने लगा। विद्यासागर ने कहा "इन्हे फेंको मत, इनके खानेवाले भो यहाँ मौजूद है"। उसने घबराकर पूछा कि भला इनको कौन खायगा? विद्यासागर ने कहा—"खिड़की के बाहर रख दो, खानेवाले आप ही आकर उठा ले जायँगे"। वह आदमी उन चूसी हुई फाँकों को वहीं रखकर थोड़ी देर तक खड़ा रहा, पर कोई उन फाँकों को खाने या उठानेवाला न आया। तब उसने कहा कि यहाँ तो कोई नहीं आया। विद्यासागर ने कहा–तुम्हारे चोगे-चपकन के डर से कोई नही आता। तुम हट जाओ, देखो मैं अभी उन्हें बुलाता हूँ। इतना कहकर वे स्वयं खिड़की के पास गए।

बनकर ग्रहण कर लिया है। अनेक देशों को जंगली जातियों में अब तक यही देखा जाता है कि जो मनुष्य शारीरिक बल का प्रयोग करने में सबसे बढ़कर होता है, वही सरदार बनाया और सर्वश्रेष्ठ समझा जाता है।

प्रायः सभी सभ्य जातियों में इस समय तक भी बराबर वही जंगलीपन का संस्कार चला आता है। इस चरम उन्नति और सभ्यता के समय में भी लोग अपने हृदय से बलप्रयोग का महत्व दूर नहीं कर सके हैं। संसार की सब से अधिक सभ्य जातियों का बल-प्रयोग पर कितना अधिक विश्वास है, इसका पता गत युरोपीय महायुद्ध से ही लग जाता है। जहाँ दो देशों की सरकारों में किसी प्रकार का विवाद खड़ा होता है, प्रायः वहीं दोनों देशों में युद्ध ठन जाता है। कभी किसी देश की सरकार विवेक, विचार और तर्क से काम लेने की आवश्यकता नहीं समझती। आजकल के जमाने में भी बलप्रयोग पर लोगों का इतना अधिक विश्वास है कि लोग उसके भिन्न भिन्न कामों और अंगों को बहुत ही उच्च, प्रतिष्ठा-पूर्ण और कीर्तिजनक समझते हैं। आजकल भी लोगों की समझ में यह बात नहीं आती कि यदि शारीरिक बल के प्रयोग की प्रथा उठा दी जाय और उसके स्थान पर प्रेम, दया और न्याय की प्रतिष्ठा कर दी जाय तो समाज की इमारत क्योंकर खड़ी रह सकेगी। जो हाल जातियों का है, वही व्यक्तियों का भी है। युरोप में बहुत हाल तक यह प्रथा थी

कि जब दो व्यक्तियों में किसी प्रकार का विवाद उपस्थित होता था, तब लोग उसका निपटारा द्वन्द्व युद्ध के द्वारा करते थे।

लेकिन फिर भी बहुत से लोगों को सदा इस बात का संदेह बना ही रहता है कि शारीरिक बल या शक्ति के प्रयोग का जितना अधिक महत्व माना जाता है, वह यथार्थ में उतना ही अधिक है या नहीं। यह बात भी लोग समझते हैं कि यदि किसी के साथ शारीरिक बल का प्रयोग किया जाय, तो वह उसका आवश्यकता से अधिक विरोध या मुकाबला करता है। लोग यह भी समझते हैं कि यदि जनता के साथ शारीरिक बल के उग्र प्रयोग किए जायँ तो उससे विद्रोह का भाव उत्पन्न हो जाता है जिसके परिणाम स्वरूप अनेक प्रकार के दुष्कृत्यों, कठोर कर्मों और अपराधों की सृष्टि होती है। प्रायः सभी देशों और सभी समयों में बलप्रयोग का ऐसा ही उलटा और अनर्थकारक परिणाम देखा जाता है। अभी हाल में रालेट ऐक्ट के संबंध में इस देश में जो आंदोलन हुआ है, उसकी एक घटना से भी यही पता चलता है। इस आंदोलन के समय भारत के अन्य प्रांतों की अपेक्षा पंजाब प्रांत में सब से अधिक अनर्थ, उपद्रव और हड़तालें आदि होने का मुख्य कारण यही था कि वहाँ की सरकार दमननीति की बहुत अधिक पक्षपाती थी और बलप्रयोग को ही उसने प्रधान अस्त्र मान रखा था। यह एक छोटी और सामयिक घटना है। आदि से लेकर अब तक सारे संसार में जो

अनेक बड़ी और छोटी घटनाएँ हो गई हैं, उन सब से यही प्रमाणित होता है कि शारीरिक बल के प्रयोग से सदा विफलता ही होती है। उससे कार्य्य सिद्ध नहीं होता बल्कि उसका सिद्ध होना और भी कठिन हो जाता तथा दूर जा पड़ता है। और यही कारण है कि आधुनिक काल के रूस के महात्मा टाल्स्टाय, अमेरिका के महात्मा थोरो और भारत के महात्मा गांधी ने शारीरिक बल के प्रयोग को सब प्रकार से घृणित, त्याज्य और अनुचित समझकर उसका स्थान आत्म-बल के प्रयोग को दिया है।

क्या इससे हम यह समझ लें कि हम लोग अधिक बुद्धिमान् हो रहे हैं? क्या हम लोग यह समझने लगे हैं कि यदि हम मनुष्य जाति को उन्नत और सुखी बनाना चाहते हैं तो हमें शारीरिक बल की अपेक्षा कहीं श्रेष्ठ आत्मा अथवा सज्जनता के बल का प्रयोग आरंभ करना चाहिए? अभी इस प्रकार के भावों का बहुत ही कम विकास हुआ है। बल्कि विकास क्या हुआ है, केवल बीजारोपण हुआ है। अभी तो लोग इस प्रकार के विचारों की उलटे हँसी उड़ाते हैं और उन्हें बहुत से अंशों में निरर्थक और निस्सार समझते हैं। लेकिन एक समय ऐसा भी आवेगा जब कि लोगों को अपनी भूल मालूम होगी और उन्हें इस प्रकार के विचारों और सिद्धांतों के सामने सिर झुकाना पड़ेगा। इस बात के अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं कि जहाँ कहीं सुजनता-

शत्रुओं की तरह रहते हैं, उस संसार पर प्रेम एक नई रंगत ला देगा। वह मनुष्य में यह समझने की शक्ति उत्पन्न कर देगा कि इस इस प्रेम के सामने बड़े बड़े राजनीतिज्ञों की कुटिल नीति कितनी जल्दी निरर्थक हो सकती है और जल तथा स्थल की सेनाएं कितनी अनावश्यक सिद्ध हो सकती हैं। जिन कामों को उग्र बल प्रयोग कभी नहीं कर सकता, उन कामों को प्रेम आप से आप और बहुत सहज में कर लेगा। बड़े बड़े कामों में प्रेम के सिद्धांतों का व्यवहार करना इधर कुछ दिनों से लोग भूल से गए हैं इतिहास से जाना जाता है कि इन सिद्धांतों का दो एक बार व्यवहार किया गया है और उससे आशातीत सफलता हुई है। वह दिन भी आवेगा जब कि संसार के सभी मनुष्यों पर प्रेम-देव का राज्य हो जायगा और सब प्रकार के दुःख और शोक का अंधकार प्रेम-सूर्य्य की किरणों से नष्ट हो जायगा।

प्राचीन काल में जब कि पाश्चात्य देशों की सभ्यता का बिलकुल विकास नहीं हुआ था अथवा बहुत ही कम विकास हुआ था, पागलों, कोढ़ियों, गुलामों और अपराधियों के साथ बहुत ही कठोर और निर्दयतापूर्ण व्यवहार किया जाता था। उन दिनों पागल सिक्कड़ों में बाँधकर हिंसक पशुओं की तरह पिंजड़ों में रखे जाते थे। कोढ़ी नगरों से निकाल दिए जाते थे और बहुत दूर एकांत में रखे जाते थे। गुलामों से इतना अधिक परिश्रम लिया जाता था कि काम करते करते

ही उनके प्राण निकल जाते थे। स्त्री और पुरुष दोनों वर्गों के अपराधी एक ही साथ और बहुत बुरी अवस्था में रखे जाते थे और उनको दुर्दशा का कोई ठिकाना न रहता था। प्रायः ५०० वर्ष हुए, इटली के पीसा और फ्लोरेन्स नामक नगरों में यह प्रथा थी कि डाक्टरों को जब शरीर शास्त्र संबंधी प्रयोगों के लिये चीर-फाड़ की आवश्यकता होती थी, तब इन कामों के लिये अपराधी लोग उनके सपुर्द कर दिए जाते थे। उन्हीं अपराधियों के हाथ-पैर काटकर और पेट-पीठ चीरकर डाक्टर लोग अनेक प्रकार के प्रयोग करते थे और शरीर शास्त्र संबंधी अनेक बातों का पता लगाते थे। आजकल उन अपराधियों का स्थान निरीह पशुओं को दे दिया गया है।

यद्यपि इटली के प्रसिद्ध महात्मा सेंट विंसेंट डी पाल ने अपने जीवन में अनेक दासों और अपराधियों के कष्टदायक कार्य स्वयं करके उन्हें कष्ट मुक्त किया था, तथापि उनके कार्य का क्षेत्र विस्तृत नहीं होने पाया था। जेलों आदि के सुधार का महत्वपूर्ण कार्य सब से पहले जान हावर्ड नामक महात्मा ने किया था। ये महात्मा उस समय पुर्त्तगाल जा रहे थे जब कि लिसबन नगर में सुप्रसिद्ध भूकंप के कारण अब तक खंडहर आदि जल रहे थे। हावर्ड अभी पुर्त्तगाल की ओर कुछ ही दूर बढ़े थे कि इतने में उनके जहाज पर कुछ फ्रांसीसी आ पहुँचे। उन फ्रांसीसियों ने हावर्ड के साथ बहुत ही निर्दयता का व्यवहार किया और ४८ घंटों तक उन्हें कुछ भी भोजन

या जल न दिया। उस जहाज़ के सब लोगों को पकड़कर फ़ांसीसियों ने ब्रेस्ट नगर के एक गंदे तहखाने में ले जा रखा और कई दिनों तक उन्हें भोजन आदि कुछ भी न दिया। कई दिनों बाद उन सब लोगों के सामने मांस का एक बड़ा लोथड़ा फेंक दिया गया जिसे वे लोग जंगली जानवरों की तरह नोच नोचकर खाने लगे। प्राय: एक सप्ताह तक उन लोगों के साथ ऐसा ही व्यवहार होता रहा। वहाँ की जमीन बहुत ही नम थी, पर फिर भी लोगों को बिछाने के लिये कुछ भी न दिया जाता था। अंत में हावर्ड किसी प्रकार वहाँ से मुक्त हो गए और इंगलैंड वापस जा पहुँचे। लेकिन जब तक उन्होंने ब्रेस्ट के तहखानेवाले अपने अधिकांश साथियों को छुड़ा न लिया, तब तक चैन न लिया। इसके उपरांत उन्होंने उन अँगरेज कैदियों के साथ पत्र-व्यवहार आरंभ किया जो युरोप के भिन्न भिन्न जेलखानों और किलों आदि में कैद थे जिससे उन्हें मालूम हुआ कि सभी स्थानों पर कैदियों की समान रूप से भीषण दुर्दशा है। इस बात से हावर्ड बहुत चिंतित हुए और उन्होंने निश्चय किया कि जिस प्रकार हो, इन कैदियों की दुर्दशा दूर होनी चाहिए।

इसके कुछ ही दिनों बाद उन्हें इंगलैंड के बेडफोर्ड नामक स्थान में एक ऐसा आनरेरी पद मिला जिसे प्रायः अपनी झूठी शान और शेखी दिखलाने की इच्छा रखनेवाले लोग ही ग्रहण किया करते थे। लेकिन हावर्ड ऐसे आदमियों

में न थे। वे अपने कर्त्तव्यों को अच्छी तरह समझते थे और उनके पालन की बहुत बड़ी आवश्यकता समझते थे। उनका पद हमारे यहाँ के आनरेरी मैजिस्ट्रेटों के पद से मिलता जुलता था। वे न्यायालय में बैठकर बहुत ध्यानपूर्वक मुकदमे सुना करते थे और जब अदालत उठ जाती थी, तब वे अपराधियों की दशा देखने के लिये जेलखाने चले जाते थे। जेलखाने में जो कुछ उन्होंने देखा, उससे वे बहुत ही दुखी हुए; और तभी से उन्होंने अपने जीवन का उद्देश और भी दृढ़तापूर्वक निश्चित कर लिया।

उन दिनों केवल इंगलैंड के ही क्या, सारे युरोप के जेलखानों की दशा बहुत ही शोचनीय और लज्जाजनक थी। बहुत ही साधारण अपराध करनेवाले लोग भी बड़े बड़े भयंकर अपराधियों और हत्यारों के साथ ही रखे जाते थे। रोटी चुरानेवाला एक भूखा दरिद्र और एक बड़ा भारी डाकू, बहुत ही साधारण अपराध करनेवाली कोई बालिका और एक वेश्या सब एक साथ ही रखे जाते थे, जिसका परिणाम यह होता था कि सबकी बहुत अधिक नैतिक अवनति होती थी (जैसा कि आजकल भारत के जेलखानों में होता है)। उन दिनों वहाँ के जेलखानों में कैदियों को किसी प्रकार का धर्मोपदेश भी नहीं दिया जाता था। इसके अतिरिक्त और भी अनेक दृष्टियों से वहाँ की अवस्था बहुत गिरी हुई थी। तात्पर्य यह कि वहाँ शैतान का पूरा पूरा राज्य था।

उन दिनों इंगलैंड में यह प्रथा थी कि जब तक किसी अभियुक्त के अभियोग का विचार होता रहता था, तब तक उसे बराबर जेलखाने में ही रहना पड़ता था। ऐसे लोग यदि विचार होने पर निरपराध सिद्ध होने के कारण न्यायालय से छूट भी जाते थे, तो भी जेल के कर्मचारी उन्हें फिर पकड़-कर जेल मे ले आते थे और जब तक वे जेलर और जेल के क्लर्कों आदि की फीस न चुकाते थे, तब तक उन्हें बराबर कैद रखते थे। उन दिनों लोग अपने कर्जदार को धमकाते हुए कहा करते थे कि मैं तुम्हें जेल भेजकर वहीं सड़ाऊँगा। सो सचमुच यही बात कार्यरूप मे परिणत होती थी और लोग जेल मे सचमुच सड़ते थे; क्योंकि वहाँ बहुत अधिक गंदगी के अतिरिक्त मलेरिया ज्वर का भीषण प्रकोप रहता था। हजारों आदमी जमीन की नमी, रोग और अन्न न मिलने के कारण ही मर जाते थे। जेलरों को सरकार से तनखाह नहीं मिलती थी बल्कि छूट जानेवाले निरपराध व्यक्तियों से मिलती थी। हावर्ड ने वहां के सब 'जस्टिसेस आफ दि पीस' (Justices of the Peace) से अनुरोध किया कि जेलरों को सरकार की ओर से वेतन दिया जाया करे। उन लोगों ने हावर्ड से पूछा कि क्या कहीं और भी ऐसा होता है? इस पर हावर्ड अपने घोड़े पर सवार होकर देश भर के सारे जेलखाने देख आए, पर कहीं उन्हें ऐसा एक भी जेलर न मिला जिसे सार्वजनिक कोष से वेतन मिलता हो। इस यात्रा से उन्हें इतना

लाभ अवश्य हुआ कि उनको कैदियों की भयंकर दुरवस्था का पूरा पूरा ज्ञान हो गया और वे केवल इंगलैंड के जेल-खानों का ही नहीं बल्कि सारे संसार के जेलखानों का सुधार करने के लिये कमर कसकर तैयार हो गए और केवल इसी काम को उन्होंने अपने जीवन का सर्वप्रधान उद्देश बना लिया।

उनके प्रयत्न से हाउस आफ कामंस ने एक कमेटी स्थापित की। हावर्ड ने जो जो बातें बतलाई थीं, उन सबकी कमेटी ने अच्छी तरह जाँच की। उन्होंने जितनी सूक्ष्म और जितनी अधिक बातें बतलाई थीं, उन सबको सुनकर लोगों को बहुत आश्चर्य हुआ। कमेटी ने उन्हें इस काम के लिये बहुत धन्यवाद दिया और जेलों के सुधार के संबंध में उनके बतलाए हुए मार्ग का अवलंबन किया। सन् १७७४ में कई बिल पास हुए जिनके अनुसार यह निश्चय हुआ कि जेलरों को वेतन दिया जाय। वे कैदियों से किसी प्रकार की फीस न ले सकें और ज्यों ही लोग न्यायालय में निर्दोष प्रमाणित हों त्यों ही वे जेल से मुक्त कर दिए जायँ। यह भी निश्चित हुआ था कि पुराने जेलों की खूब अच्छी तरह सफाई हो और नए जेल ऐसे बनाए जायँ जिनमें रहने से किसी का स्वास्थ्य नष्ट न हो। जिन दिनों ये बिल पास हुए थे, उन दिनों हावर्ड बीमार थे। अच्छे होते ही उन्होंने फिर देश भर के जेलों में घूम घूमकर इस बात की जाँच की कि इन नए कानूनों के

अनुसार काम हो रहा है या नहीं। इंगलैंड के जेलों के सुधार का काम समाप्त करके वे स्काटलैंड और आयर्लैंड गए। वहाँ भी उन्हें वही भीषण अवस्था दिखाई दी। उन देशों में भी जब उनके प्रयत्न से उसी प्रकार का सुधार हो गया, तब वे युरोप के फ्रांस, बेल्जियम, हालैंड और जर्मनी आदि देशों में गए। फ्रांस में तो वे एक बार इस काम के लिये गिरिफ्तार होते होते बच गए थे। तीन वर्ष तक निरंतर परिश्रम करने के उपरांत उन्होंने जेलों की अवस्था के संबंध में एक ग्रंथ प्रकाशित किया जिससे लोगों में खलबली मच गई। हाउस आफ कामंस के पूछने पर उन्होंने और भी नए नए सुधार बतलाए। इसके बाद वे फिर दोबारा दौरे पर निकले और रूस पहुँचे। रूस में जब महारानी केथराइन ने उन्हें अपने दरबार में बुलाया था, तब उन्होंने बहुत ही नम्रतापूर्वक उन्हें यह सूचित कर दिया कि मैं इस देश में दुर्दशाग्रस्त कैदियों के रहने के स्थान देखने के लिये आया हूँ; राजमहल और राजदरबार देखने के लिये नहीं। रूस में उन्होंने देखा कि जिन लोगों को प्राणदंड मिलता है, उनके प्राण मार मारकर लिए जाते हैं। वहीं उन्हें इस बात का भी पता लगा था कि जल या स्थल सेना के लिये जो रंगरूट भरती किए गए थे, उनमें से सत्तर हजार रंगरूट एक ही वर्ष मे रूस के अस्पतालों में मर गए थे। वहाँ से चलकर पहले उन्होंने पोलैंड, प्रूशिया और हनोवर आदि में और पीछे सन् १७८३ में स्पेन और पुर्त्तगाल

में भ्रमण किया। इस प्रकार १२ वर्ष में उन्होंने युरोप के केवल प्रधान प्रधान नगरों के जेलखाने देखने के लिए ही, उन दिनों जब कि यात्रा के बहुत ही थोड़े साधन थे, ४२००० मील से अधिक की यात्रा की और ३०००० पाउंड से अधिक कैदियों और रोगियों आदि की सहायता के लिये व्यय किए थे। नवंबर सन् १७८५ में वे फिर पेरिस पहुँचे। पेरिस की सरकार ने उन्हें फ्रांस में आने से रोक दिया था, इसलिये उन्हें भेस बदलकर वहाँ जाना पड़ा था। जिस रात को वे पेरिस पहुँचे थे, उसी रात को पुलिस उनके सिर पर पहुँची। लेकिन इस बार भी वे किसी प्रकार अपनी जान बचाकर वहाँ से भागे। यहाँ के जेलों के संबंध में जिन बातों का वे पता लगाना चाहते थे, उन बातों का पता उन्हें आगे चलकर एक दूसरे स्थान पर लग गया। वहाँ से वे स्मर्ना पहुँचे जहाँ उन दिनों प्लेग बहुत भीषण रूप से फैल रहा था। केवल क्वारंटा-इन में होनेवाले कष्टों का पता लगाने के लिये ही वे एक ऐसे जहाज पर सवार हुए थे जिसपर बहुत से रोगी थे। वहाँ उन्हें भी ज्वर आ गया और चार दिनों तक भीषण कष्ट सह-कर क्वारंटाइन में रहना पड़ा। अंत में वे अच्छे होकर इंगलैंड लौट गए और सन् १७८९ में फिर प्लेग के संबंध में जाँच करने के लिये वे हालैंड और जरमनी होते हुए रूस पहुँचे। वहाँ से वे तुर्किस्तान और मिस्र जाना चाहते थे, लेकिन रूस के ही एक जेल में उन्हें जेल का बुखार आने लगा।

और वहीं ६४ वर्ष की अवस्था में उनके प्राण निकल गए। मरते समय उन्होंने एक आदमी को एक स्थान की ओर इशारा करके कहा था कि "मुझे वहीं गाड़ देना। मेरी कब्र पर एक धूपघड़ी बना देना और ऐसा उपाय करना जिसमें सब लोग मुझे भूल जायँ।"

लेकिन महात्मा हावर्ड को मनुष्य जाति कभी भूल नहीं सकती। उन्होंने आजीवन सबसे अधिक पीड़ित लोगों को कष्ट से मुक्त करने का प्रयत्न किया था। अपने सुख का उन्होंने कभी कोई ध्यान ही नहीं रखा और सदा केवल ऐसे लोगों की सहायता की जो उनके बिना असहाय थे। उन्होंने अपने जीवनकाल में ही बहुत बड़ा काम कर डाला था; और उनके मरने के उपरांत तो उनके प्रभाव ने और भी अधिक काम किया। उस प्रभाव ने आज तक केवल इंगलैंड के ही नहीं, बल्कि समस्त सभ्य जातियों के कानून में बहुत बड़ा सुधार और परिवर्त्तन कर डाला। इंगलैंड के प्रसिद्ध विद्वान् बर्क ने उनकी बहुत अधिक प्रशंसा की है। उनके समय से अब तक कैदियों की अवस्था में बहुत बड़ा सुधार हो गया है। उनके बाद और भी बहुत से लोगों ने उनके दिखलाए हुए पथ का अवलंबन किया है और इस संबंध में बहुत कुछ काम किया है। अब तो कैदियों की नैतिक उन्नति के लिये भी कहीं कहीं कुछ प्रयत्न होता है और उनके साथ होनेवाले बलप्रयोग और अत्याचार में बराबर कमी होती जा रही है। बहुत से

लोगों विशेषतः जेलरों ने कैदियों के साथ दया और प्रेम का व्यवहार करके देखा है कि इसका परिणाम कैदियों के लिये बहुत ही शुभ होता है। इस अवसर पर हम अमेरिका के कनेक्टीकट नामक राज्य के कप्तान पिल्सबरी का कुछ हाल दे देना चाहते हैं। वे एक जेल के गवर्नर थे। उनके उस पद पर पहुँचने से पहले कैदियों के साथ बहुत ही बुरा व्यवहार किया जाता था जिसका परिणाम यह होता था कि दुष्कर्मों और अपराधों की ओर उनकी प्रवृत्ति और भी बढ़ती जाती थी। राज्य में दिन पर दिन अपराधों और अपराधियों की संख्या बराबर बढ़ती जाती थी और जेल के दिन पर दिन बढ़नेवाले व्यय के कारण ही राज्य बराबर कर्जदार होता जाता था। लेकिन कप्तान पिल्सबरी ने आते ही बड़ा भारी परिवर्त्तन कर डाला। वे कैदियों के साथ बहुत ही दयालुता का व्यवहार करके उन्हें सुधारने और अच्छे मार्ग पर लगाने लगे जिसका फल यह हुआ कि बड़े बड़े दुष्ट अपराधी भी भले आदमी बन गए और बहुत अच्छी तरह से काम करने लगे। पहले तो जेल के व्यय के लिये राज्य को बराबर ऋण लेना पड़ता था, परंतु अब जेल में होनेवाले काम की आय से ही उसका सारा व्यय चलने लगा। उस जेल के एक कैदी का हाल बहुत ही शिक्षाप्रद है। वह कैदी सत्रह वर्ष से बराबर बड़े बड़े अपराध करता चला आता था और प्रायः जेल से निकल भागता था। सारा देश उससे भयभीत और सशंकित रहता था।

लेकिन जब वह फिर जेल में आया, तब पिल्सवरी ने उससे कहा कि मै आशा करता हूँ कि अब तुम यहाँ से भागने का प्रयत्न न करोगे। मैं जहाँ तक हो सकेगा, तुम्हे आराम पहुँचाऊँगा और तुम्हारे साथ मित्रता का व्यवहार करूँगा। मुझे आशा है कि अब तुम्हारे कारण मुझे कभी किसी प्रकार का कष्ट न उठाना पड़ेगा। इस जेल में कालकोठरी भी है, लेकिन मैं उसमें कभी किसी को नही भेजता। मैं जिस प्रकार तुम्हारा विश्वास करता हूँ, उसी प्रकार तुम भी मेरा विश्वास करो और सारे जेल में जहाँ चाहो, खूब स्वतंत्रता से घूमो फिरो। पहले इन बातों का उस पर बहुत ही कम प्रभाव पड़ा और कुछ ही हफ़्तों बाद समाचार मिला कि वह कैदी फिर जेल से भागने की फिक्र में है। तब कप्तान ने उसे बुलाकर कहा कि अब तुम्हे कालकोठरी मे बंद करना आवश्यक हो गया है। तुम मेरे साथ चलो। आगे आगे दुबले पतले कप्तान और उनके पीछे वह राक्षस चला। जब वे दोनों कालकोठरी के बहुत पास पहुँच गए, तब कप्तान ने फिर घूमकर उससे कहा —"क्या तुमने मेरे साथ वैसा ही व्यवहार किया है जैसा कि करना चाहिए? मैंने तुम्हारे सुख के लिये सब कुछ किया और तुम पर पूरा पूरा विश्वास किया; लेकिन तुमने मेरा जरा भी विश्वास न किया और उलटे मुझे विपत्ति में फँसाने का उपाय रचा। क्या यही भलमनसत है? लेकिन फिर भी मैं नहीं चाहता कि तुम्हें कालकोठरी में बंद करूँ। यदि मुझे इस

बात का ज़रा भी पता लग जाय कि तुम्हें मेरा कुछ ख़याल-" वह क़ैदी फूट फूटकर रोने लगा और बोला कि महाशय, इधर सत्तरह वर्षों में मैं बड़ा भारी पिशाच हो गया हूँ। लेकिन आपने मेरे साथ फिर भी वैसा ही व्यवहार किया जैसा कि भले आदमी के साथ करना चाहिए। इस पर कप्तान ने कहा कि आओ, हम दोनों गोट चलें। तब से उसे फिर सारे जेल में घूमने फिरने की स्वतंत्रता हो गई और वह सुधरने लगा। उसने बड़ी प्रसन्नता से अपनी सारी मियाद बिताई और सब के साथ सदा बहुत अच्छा व्यवहार किया।

कप्तान पिलसबरी के संबंध की एक घटना भी बहुत मार्के की है। एक बार किसी ने उनसे कहा कि एक क़ैदी ने आपको मार डालने की शपथपूर्वक प्रतिज्ञा कर ली है। इस पर कप्तान ने तुरंत उस क़ैदी को एकांत में अपनी हजामत बनवाने के लिये बुलवाया। जब वह क़ैदी आ गया, तब उन्होंने पहले तो एक बार उस आदमी पर भरपूर निगाह डाली, तब उसके उस्तरे की ओर देखा और अंत में उससे हजामत बनाने के लिये कहा। उस क़ैदी का हाथ काँपने लगा, पर फिर भी उसने ज्यों त्यों करके उनकी हजामत बनाई। जब वह हजामत बना चुका, तब कप्तान ने उससे कहा—"मैंने सुना था कि तुम मुझे मार डालना चाहते हो। लेकिन फिर भी मैंने सोचा कि मैं तुम पर विश्वास कर सकता हूँ।" इस पर उस आदमी के मुँह से इसके सिवा और कुछ भी न निकला कि

ईश्वर आपका मंगल करे।" सद्व्यवहार और विश्वास का ऐसा ही उत्तम फल हुआ करता है।

न्यूयार्क के जेलखानों के इंस्पेक्टर ने पचास कैदियों के आचरण सुधारने का प्रयत्न किया था। उनमें से केवल दो कैदी ऐसे निकले जो अपनी बुरी आदतें न छोड़ सके। शेष सबके जीवन सुधर गए। इस घटना से भी इस बात का पता चलता है कि सुजनतापूर्ण व्यवहार में कितनी अधिक और उतम शक्ति है।

कैद से छूटे हुए अपराधियों को जिस सब से बड़ी कठिनता का सामना करना पड़ता है, वह यह है कि फिर उन्हें किसी प्रकार का कोई काम नहीं मिलता। वे काम भी करना चाहते हैं और भविष्य में अपना आचरण भी शुद्ध रखना चाहते हैं। लेकिन पुलिसवाले सदा उनके पीछे लगे रहते हैं और अधिकारियों के पास उनके विरुद्ध रिपोर्ट भेजा करते हैं। इस प्रकार मानों वे फिर अपनी पुरानी आदतें पकड़ने के लिये मजबूर किए जाते हैं और जेल से छूटे हुए कैदियों के लिये फिर सदाचारी बनना प्रायः असंभव हो जाता है। मैन्चेस्टर के थामस राइट नामक परोपकारी महात्मा का ध्यान छूटे हुए कैदियों की इस दुर्दशा की ओर गया था। न तो समाज में ही उनका विशेष सम्मान था और न उनके पास धन ही था। पर हाँ उनका हृदय प्रेमपूर्ण, उदार और विशाल था। बाल्यावस्था में उन्हें कोई विशेष शिक्षा भी न मिली थी,

पर उनके धार्मिक विचार बहुत ही पुष्ट थे। अंत में वह समय आया जब कि उन्होंने अपने सब प्रकार के धार्मिक बंधन तोड़कर संसार की अच्छी और बुरी बातों का सामना करना आरंभ किया। मैन्चेस्टर में जितने दुष्ट पुरुष और बालक थे, सबसे पहले वे उन्हीं सब में जा मिले। इस प्रकार वे भी बाल्यावस्था में कुछ दिनों तक दुष्टों के साथ मिलकर दुष्टता करते रहे; पर अंत में उनका विवेक जाग्रत हुआ और वे अपने बुरे साथियों की सोहबत से घबराए। बहुत ही छोटी अवस्था में उनकी माता ने उन्हें जो धार्मिक उपदेश दिए थे, वे उपदेश इस समय उनके सहायक हुए और वे एक धार्मिक युवक के साथ मित्रता करके प्रति दिन नियमपूर्वक एक उपासना-मंदिर में जाने लगे। पंद्रह वर्ष की अवस्था में वे एक लोहा ढालनेवाले के यहाँ काम सीखने लगे। पहले तो उन्हें प्रति सप्ताह पाँच ही शिलिङ्ग वेतन के मिला करते थे; परंतु वे अध्यवसायी, संयमी और बुद्धिमान् थे, इसलिये उन्होंने शीघ्र ही उन्नति कर ली और २३ वर्ष की अवस्था में प्रति सप्ताह साढ़े तीन पाउंड वेतन पाने लगे। आगे चलकर उनकी आमदनी तो कभी इससे अधिक न हुई, परंतु जो अच्छे अच्छे कार्य उन्होंने किए, उनका उनकी आर्थिक अवस्था से कोई संबंध न था।

सब से पहले उनका ध्यान उन्हीं लोगों की ओर गया जिनकी दशा सब से अधिक शोचनीय थी। उन्होंने देखा कि

जब कोई अपराधी जेल से छूटता है, तब उसे फिर अपना पुराना काम कदाचित् ही मिलता है। नए लोग भी उसे अपने यहाँ कोई काम नही देते और उसे विवश होकर अधिक दुष्टों के साथ मिलना पड़ता है; और इसी लिये वह फिर तरह तरह के अपराधों की ओर प्रवृत्त होता है। एक दिन एक आदमी कारखाने में कुछ काम माँगने के लिये आया और उसे काम मिल भी गया। वह बहुत ही मुस्तैद, होशियार और मेहनती था; लेकिन किसी तरह से यह बात खुल गई कि वह जेल में रह चुका है। मालिक ने राइट से पूछा कि क्या आपको इसका कुछ हाल मालूम है? उन्होंने कहा कि मुझे कुछ हाल तो नही मालूम है, पर मैं इसका पता लगा दूँगा। एक दिन यों ही राइट उससे पूछ बैठे कि पहले तुम कहाँ काम करते थे ? उसने उत्तर दिया कि मैं विदेश गया हुआ था। जब राइट ने लगातार कई प्रश्न किए, तब उस बेचारे की आँखों से आँसू बहने लगे और उसने यह बात मंजूर की कि मुझे सजा हो गई थी और मैं जेल से छूटकर आया हूँ। साथ ही उसने यह भी कहा कि भविष्य में मैं अपना आचरण सुधारना चाहता हूँ और। आशा करता हूँ कि अपने पुराने दोषों को धीरे धीरे दूर कर दूँगा । मिस्टर राइट ने उसकी सब बातें सच मान लीं और उन्हें विश्वास हो गया कि यह सच्चे हृदय से अपना सुधार करना चाहता है। उन्होंने मालिक से उसका सारा हाल कह दिया और साथ ही यह भी कहा कि यदि आप

लोग इसके भावी शुद्ध आचरण के संबंध में जमानत चाहते हों तो मैं आप लोगों के पास बीस पाउंड जमा कर सकता हूँ। निश्चय हुआ कि उस आदमी से बराबर काम लिया जाय; लेकिन इसी बीच में उस आदमी को कहीं से पता लग गया कि मेरे संबंध में इस प्रकार की पूछताछ हो रही है; इसलिये उसी रात को वह अपना सब सामान लेकर मैंचेस्टर से चला गया। दूसरे दिन जब उसे बुलाने के लिये आदमी भेजा गया, तब मालूम हुआ कि वह बरी नामक स्थान की ओर चला गया है। राइट तुरंत उसकी खोज में पैदल चल पड़े। मैंचेस्टर से कई मील जाने के बाद वह व्यक्ति उन्हें सड़क के किनारे एक स्थान पर बैठा हुआ मिला। उसके चेहरे से मालूम होता था कि वह बहुत ही निराश और हतोत्साह हो गया है। राइट ने उसे हाथ पकड़कर उठा लिया और कहा कि चलो, तुम्हें काम मिल जायगा; परंतु भविष्य में अपना आचरण बराबर ठीक रखना पड़ेगा। इसके बाद दोनों आदमी मैंचेस्टर चले आए और शीघ्र ही यह बात सिद्ध हो गई कि वह आदमी बहुत ही सच्चा, ईमानदार, नेक और मेहनती है। इस घटना का मिस्टर राइट पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा और उन्होंने समझ लिया कि प्रेम और सहानुभूति की सहायता से दुर्दशा-ग्रस्त अपराधियों की बहुत कुछ उन्नति की जा सकती है। उन्होंने समझ लिया कि ऐसे आदमियों को अपने उद्धार की

ओर से कभी निराश न होना चाहिए और दूसरों को सदा उनके सुधार में सहायता देनी चाहिए।

बस ऐसे ही लोगों के सुधार को मिस्टर राइट ने अपने जीवन का मुख्य उद्देश बना लिया। यद्यपि उनका कोई सहायक नहीं था, पर फिर भी वे दृढ़ विश्वासपूर्वक अपने उद्देश की सिद्धि में लग गए और अंत में उन्हे सफलता भी हुई। सब से पहले उन्होंने सेल्फर्ड नामक स्थान के जेलखाने के पास एक मकान लिया और कैदियों से मिलने का प्रयत्न किया। बहुत कुछ परिश्रम करने के उपरांत किसी प्रकार उन्हें रविवार को तीसरे पहर अपराधियों को ईश्वर-प्रार्थना कराने के लिये जेल में जाने की आज्ञा मिल गई। लेकिन यह आज्ञा केवल सब कैदियों को एक साथ खड़ा कराके ईश्वर-प्रार्थना कराने के लिये ही थी और प्रत्येक कैदी से अलग अलग बात करने की उन्हें आज्ञा नहीं थी। पर फिर भी उन्होंने सिर्फ इतनी बात को ही बहुत समझा और धैर्यपूर्वक अपना कार्य आरंभ किया। एक दिन जेल के पादरी ने मिस्टर राइट से कहा कि एक कैदी की मियाद पूरी हो गई है और भविष्य मे वह अपना आचरण सुधारना चाहता है। क्या आप कृपाकर उसके लिये कोई काम दे सकते हैं? मि० राइट ने उसे काम दिलाना मंजूर किया और अंत मे उसे काम दिलवा भी दिया। इससे प्रसन्न होकर गवर्नर ने उन्हे स्वतंत्रतापूर्वक जेल में आने जाने और अलग अलग कैदियों से मिलने की

आज्ञा दे दी। अब वे कैदियों को अच्छे अच्छे उपदेश और परामर्श देने लग गए और उन्हें आचरण सुधारने के लिये उत्तेजित और उत्साहित करने लगे। वे कैदियों के घर उनके सँदेसे भी ले जाने लगे और अनेक प्रकार से उनकी सहायता करने लगे। जो कैदी जेल से छूटते थे, उन्हें वे उनके घर ले जाते थे, अपने पास से यथासाध्य उनकी थोड़ी बहुत आर्थिक सहायता करते थे और तब उन्हें इधर उधर ढूँढ़कर कोई न कोई काम दिलवा देते थे। ऐसे लोग प्रायः बहुत अच्छी तरह और ईमानदारी के साथ काम करते थे। इसलिये बहुत से कारखानों के मालिक भी मि० राइट का बहुत कुछ विश्वास और आदर करने लगे। सब लोग समझ गए कि मि० राइट बहुत ही सज्जन और परोपकारी हैं और कभी किसी को अनुचित परामर्श नहीं देते। इस प्रकार बहुत से लोगों का उन पर विश्वास हो गया और उनके द्वारा छूटे हुए कैदियों को खूब काम मिलने लगे। जब कभी कोई मालिक किसी छूटे हुए कैदी को अपने यहाँ काम देने में हिचकता, तब मि० राइट अपने पास से कुछ धन उसकी जमानत के तौर पर जमा कर देते थे।

इस प्रकार वे बराबर अपना काम करते रहे। उन्होंने सदा प्रसिद्धि से बचने का प्रयत्न किया, क्योंकि वे समझते थे कि प्रसिद्धि ही मनुष्य के कार्यों में बहुत कुछ बाधा उत्पन्न कर देती है। कुछ ही वर्षों में उन्होंने जेल से छूटे हुए कैदियों को

अच्छी अच्छी जगहें दिलवा दीं और उन सबके आचरण भी सुधार दिए। इसके साथ साथ उन्होंने बहुत सी शराबी औरतों की शराबखोरी भी छुड़ा दी। इस काम के लिये उन्हें कभी कभी मीलों पैदल चलकर देहातों में जाना पड़ता था और पतियों से घुटने टेककर इस बात की प्रार्थना करनी पड़ती थी कि अब आप अपनी स्त्री को घर में रख लें, क्योंकि अब उसने शराब पीना छोड़ दिया है और वह अपने घर में आकर रहना चाहती है।

जब मि० राइट को इस प्रकार कार्य करते हुए कई बरस बीत गए, तब उनके सत्कार्यों और सद्विचारों की बात बड़े बड़े अपराधियों के कानों तक पहुँची। जेलों की सरकारी वार्षिक रिपोर्टों में उनके कामों की प्रशंसा छपने लगी। एक रिपोर्ट में उनकी बहुत कुछ प्रशंसा के उपरांत लिखा गया था कि जेल से छूटे हुए जिन ९६ कैदियों की मि० राइट ने सहायता की थी, उनमें से केवल ४ ऐसे निकले जिन्होंने फिर भी किसी अपराध के कारण सजा पाई, शेष सब उत्तमतापूर्वक अपना जीवन व्यतीत करते हैं।

कभी कभी ऐसा भी होता था कि जेल से छूटे हुए किसी कैदी को मि० राइट कोई काम न दिलवा सकते थे। उस दशा में उसे किसी दूसरे स्थान पर भेजने के लिये वे स्वयं अपने पास से कुछ रुपए उधार दे देते थे या अपने मित्रों से

दिलवा देते थे। इस प्रकार उन्होंने जेल से छूटे हुए ६४९ कैदियों को विदेश भेजने और नवीन परिस्थितियों में नए सिर से उत्तमतापूर्वक जीवनयात्रा आरंभ करने में सहायता दी। बहुत से अवसरों पर तो स्वयं छूटे हुए कैदी ही उन्हें इस परोपकारी काम में सहायता देते थे। वे या तो स्वयं अपने साथियों को कोई काम दिलवा देते थे और या उन्हें विदेश भेजने के लिये आपस में चंदा करते थे। इस प्रकार परोपकार की यह शृंखला बराबर बढ़ती जाती थी।

एक बार उत्तर अमेरिका से इसी प्रकार के एक व्यक्ति ने लिखा था—"प्रिय पूज्य पिता जी, आपने पिता की भाँति मेरी जो सहायता की है और जिसे मैं कभी इस जन्म में नहीं भूल सकता, वही मेरी वर्त्तमान उन्नति का मुख्य कारण है। वास्तव में इस संसार में आप ही मेरे लिये सब से बढ़कर दयालु और मेरे मुख्य परामर्शदाता हैं। आपकी सहायता से ही दुष्ट जीवन से मेरा उद्धार हुआ है। ऐसे समय में जब कि और लोगों ने मुझे आवारा और पाजी समझकर मेरी ओर से मुँह फेर लिया था, आपने ही पिता की भाँति मुझे फिर सन्मार्ग में लगाया और भावी अच्छे दिनों की आशा दिलाकर मेरे हृदय में संतोष उत्पन्न किया; और साथ ही इससे बढ़कर उत्तम पारलौकिक सुख की आशा दिलाई। प्रिय पिता जी, आपने जो दयापूर्ण व्यवहार किया है, उसके लिये ईश्वर आपका कल्याण करे। आप अपने बेचारे साथियों के

लिये जो श्रेष्ठ प्रयत्न करते हैं, उसका ध्यान करते ही मेरी आँखों से प्रेमाश्रु की धारा बहने लगती है।"

आजकल के युवकों को प्रायः समय के अभाव की बहुत शिकायत रहा करती है। चाहे वे वास्तविक काम कुछ भी न करते हों पर कोई अच्छा काम करने के लिये उन्हें समय बिलकुल नहीं मिलता। ऐसे लोग भी मि० राइट से बहुत बड़ी शिक्षा ग्रहण कर सकते है। ऊपर जेल से छूटे हुए कैदियों के संबंध में मि० राइट के उन कामों का वर्णन किया गया है जो सब काम उन्होंने अपनी लोहे के कारखानेवाली नौकरी छोड़कर नहीं किए थे। वे नित्य प्रति अपने कारखाने में प्रातःकाल ५ बजे से सध्या के ६ बजे तक कठिन परिश्रम किया करते थे: और कभी कभी तो रात को ८, ९ बजे तक भी उन्हें काम करना पड़ता था। अपराधियों की सेवा और सहायता का काम वे प्रायः संध्या समय और रविवार के दिन किया करते थे। इन्हीं अवकाश के अवसरों पर वे जेल जाते थे, कैदियों के घर जाते थे और रविवार के दिन खुलनेवाली पाठशालाओं में जाते थे। ६३ वर्ष की अवस्था में बहुत अधिक परिश्रम करने के कारण उनका स्वास्थ्य कुछ बिगड़ने लगा। उन्होंने जन्म भर अपनी सारी आय परोपकार के कामों में ही लगाई थी: इसलिये वृद्धावस्था मे उनके पास कुछ भी न बच गया था। और फिर अपने अच्छे दिनों में भी उन्होंने स्वयं अपने लिये बहुत ही थोड़ा खर्च किया था और

जहाँ तक हो सका, दीन-दुखियों की सहायता के लिये, स्वयं अनेक कष्ट सहकर भी बराबर धन बचाया था।

मि० राइट की वृद्धावस्था के कष्ट तथा युवावस्था के परिश्रम का विचार करके तत्कालीन सरकार ने उन्हें ८०० पाउंड वार्षिक वेतन देकर जेलों का भ्रमणकारी निरीक्षक बनाना चाहा था। लेकिन उन्होंने यह पद स्वीकृत न किया। आप कह सकते हैं कि इस पद को स्वीकृत करके तो वे दीन दुखियों की सहायता के लिये और भी अधिक धन बचा सकते थे और वे अपना कार्य-क्षेत्र भी बहुत कुछ बढ़ा सकते थे; लेकिन मि० राइट के विचार इससे बहुत भिन्न थे। उन्होंने यह पद अस्वीकृत करते समय कहा था कि इसमें मेरी परोपकार करने की शक्ति बहुत ही परिमित हो जायगी; क्योंकि जब मैं जेलों का सरकारी अफसर बन जाऊँगा, तब शीघ्र ही लोग मुझे "कैदियों का बंधु" समझना छोड़ देंगे। उनके ऐसे विचारों से सहमत होकर मैंचेस्टर के निवासियों ने सरकार की सहायता से ऐसा प्रबंध कर दिया जिसमें आगे चलकर उन्हें बराबर प्रतिवर्ष १८२ पांउड मिलने लगे। इतना ही धन वे कारखाने में नौकरी करके भी प्रति वर्ष कमाते थे, और इससे अधिक लेना वे पसंद न करते थे। इसी अवसर पर एक सज्जन ने मि० राइट का एक बहुत बड़ा चित्र तैयार करके मैंचेस्टर कारपोरेशन को दिया था जो अब तक वहाँ के टाउन-हाल में लगा हुआ है।

मि० राइट वृद्धावस्था में भी निरंतर काम करते रहे। वे सदा घूम घूमकर सभी नगरों के जेलखानों में जाया करते थे। वे जिस नगर में जाते थे, उस नगर के केवल जेल को ही देखकर निश्चिंत नहीं हो जाते थे बल्कि शिक्षा-संबंधी दूसरी संस्थाओं में भी जाया करते थे। अनेक स्थानों पर उन्होंने द द्रों के लिये पाठशालाएँ खोली थीं। वे सदा यही चाहते थे कि दरिद्रों के बालकों को ऐसी उत्तम शिक्षा दी जाय जसमें वे उत्तम उपायों से जीविका-निर्वाह कर सकें और सदाचारी बने रहें—चोर, जुआरी, उचक्के और डाकू न हो जायँ। वे यह भी समझते थे कि माता-पिता के बुरे उदाहरण का भी बालकों पर बहुत निकृष्ट प्रभाव पड़ता है; इसलिये वे वयस्क स्त्रियों और पुरुषों के चरित्र सुधारने और उन्हें सदाचारी बनाने का भी बहुत कुछ प्रयत्न करते थे। उन दिनों सुप्रसिद्ध मि० काब्डन जातीय शिक्षा की विशिष्ट प्रणाली पर बहुत जोर दे रहे थे। इस संबंध में मि० राइट ने उनसे कहा था कि इस जातीय शिक्षा का सर्वप्रधान उद्देश यह रखा जाय कि इसके द्वारा अपराधों और दरिद्रता का ह्रास तथा नाश हो। देश में जहाँ कहीं कोई अच्छा काम होता था, वे तुरंत वहाँ पहुँच जाते थे और उसमें पूरी पूरी सहायता देते थे। वे अपने समय का एक क्षण भी व्यर्थ न जाने देना चाहते थे। वे सदा यही कहा करते थे—"काम करो, काम करो; जब तक दिन है। नहीं तो रात हो जायगी।"

इस प्रकार सदा दीनों और दुखियों की सहायता करने-वाले मि० राइट ने अपना जन्म बिताया। पचासी वर्ष की अवस्था में उनके स्वास्थ्य ने बिलकुल जवाब दे दिया। अंत समय में भी जब कोई दरिद्र या जेल से छूटा हुआ कैदी उनके पास आता, तब वे उससे भेंट करते थे और उसे उचित परामर्श तथा सहायता देते थे। अंत में १८ अप्रैल सन् १८७५ को उन्होंने बहुत ही शांति और सुख से अपने प्राण त्याग दिए। अंत समय में उन्हें शांति और सुख क्यों न मिलता जब कि उन्होंने अपने समस्त जीवन का पूरा पूरा सदुपयोग किया था? ऐसी शांति और ऐसा सुख जीवन में बिना सत्-कार्य और परोपकार किए प्राप्त हो ही नहीं सकता। प्रत्येक मनुष्य का यह प्रधान कर्त्तव्य होना चाहिए कि वह सदा सत्कार्य और परोपकार करे और इस प्रकार का सुख तथा शांति प्राप्त करने का उद्योग करे। बस, यही स्वर्ग है और इसकी विपरीत अवस्था नरक है।

मि० राइट ने दुष्टों का सुधार केवल उनपर विश्वास करके किया था। यदि किसी मनुष्य का पूरा पूरा विकास किया जाय और उसके साथ ही सज्जनता का व्यवहार करके उसे सन्मार्ग दिखलाया जाय तो उस मनुष्य में जितनी अच्छी बातें, जितने सद्‌गुण हैं, उन सबका बहुत ही शीघ्र विकास हो जाता है। विश्वास और सुजनतापूर्ण व्यवहार का मनुष्य के हृदय पर बहुत ही शीघ्र प्रभाव पड़ता है और वह तुरंत

सन्मार्ग में लग जाता है। १०० में से प्रायः ६६ अवस्थाओं मे यही बात देखी गई है। सदा दूसरों के विषय में सर्वश्रेष्ठ विचार रखो। एक महात्मा का कथन है—"बुरी बातें सोचना अथवा किसी के विषय में बुरे विचार रखना आत्मा की नीचता का निश्चित प्रमाण है।" संभव है कि दूसरों का विश्वास करके कभी कभी तुम धोखा खा जाओ; लेकिन याद रखो कि अपनी आत्मा को नीच बनाने, अन्यायी होने और अविश्वास करके दूसरों को नीति-भ्रष्ट करने की अपेक्षा कभी कभी स्वयं धोखा खा जाना ही कहीं अच्छा है।

आठवाँ प्रकरण

सहानुभूति और दया

जीवन में सफलता प्राप्त करने के जितने साधन हैं, उनमें सहानुभूति, प्रेम और दया प्रधान हैं। इन गुणों से दोषों का नाश और सद्गुणों की वृद्धि होती है। जिस मनुष्य में ये सब गुण होते हैं, उनका कभी कोई विरोध नहीं करता। इन गुणों को देखकर दूसरों का पत्थर का कलेजा भी पसीज जाता है और उनमें उत्तम गुणों का विकास होने लगता है। ईसाई, बौद्ध और सनातन आदि धर्मों के तो मानों ये सब गुण आधार स्तंभ हैं। "प्रेम एव परोधर्म्म" और "मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे" आदि. ऐसे सिद्धांत हैं जिनके द्वारा संसार का काया-पलट हो सकता है।

जब सुप्रसिद्ध महात्मा सेंट जान बहुत ही बुड्ढे हो गए थे और बुढ़ापे के कारण दस बीस कदम भी चलने में असमर्थ हो गए थे, तब एक बार आपके कुछ मित्र आपको गोद में उठाकर ईसाई लड़कों के एक समाज में ले गए थे। समाज में पहुँचकर आपने कहा—"छोटे बच्चो, एक दूसरे के साथ प्रेम करो।" थोड़ी देर बाद फिर आपने कहा—"एक दूसरे के साथ प्रेम करो।" जब कुछ बच्चों ने आपसे पूछा कि—"क्या इसके अतिरिक्त आप और कोई उपदेश नहीं देंगे?" तब

आपने उत्तर दिया—"मैं बार बार यही कहूँगा: क्योंकि यदि तुम सब परस्पर प्रेम करने लग जाओगे तो फिर किसी दूसरी बात की आवश्यकता ही न रह जायगी।"

यह सिद्धांत सभी स्थानों पर प्रयुक्त हो सकता है। सहानुभूति का आधार प्रेम ही है। निःस्वार्थ भाव से प्रेमपूर्वक दूसरों के दुःख में सम्मिलित होना ही सहानुभूति है। हम दूसरों की दुःखपूर्ण अवस्था देखते हैं, उसे देखकर आपे से बाहर हो जाते हैं और उसके शरीक हो जाते हैं। हम उसके साथ सहानुभूति दिखलाते हैं, उसकी सहायता करते हैं और उसे कष्ट से मुक्त करते हैं। बिना सहानुभूति के न तो प्रेम ही हो सकता है और न मित्रता ही हो सकती है। सहानुभूति और दया का जो शुभ परिणाम होता है, वह चौतरफा होता है। यह शुभ परिणाम उसके लिये भी होता है जिसके साथ सहानुभूति और दया का व्यवहार किया जाता है और उसके लिये भी होता है जो ऐसा व्यवहार करता है। सहानुभूति और दया करनेवाले के हृदय में तो असीम आनंद और संतोष होता है; और जिसके प्रति सहानुभूति और दया की जाती है, उसके हृदय में दया और परोपकार का भाव भी उत्पन्न होता है।

एक महात्मा का कथन है—'शारीरिक, श्रम करके हम संसार का जितना कल्याण करते हैं, उससे कहीं अधिक कल्याण अपनी सहानुभूति के द्वारा करते हैं; और अपनी व्यक्तिगत

आकांक्षा से संसार की जितनी सेवा करते हैं,उससे कहीं अधिक सेवा ईर्ष्या के द्वारा और गुणों का आदर करके करते हैं। अपनी प्रतिष्ठा, संपत्ति और स्वास्थ्य आदि खोकर भी मनुष्य सुख से रह सकता है; परंतु एक चीज ऐसी है जिसके बिना जीवन बिलकुल बोझ मालूम होता है—और वह चीज है मानव सहानुभूति।"

यह बात ठीक है कि कुछ लोग ऐसे होते हैं, जिनके साथ यदि सहानुभूति और दया का व्यवहार किया जाय तो वे कृतज्ञ नहीं होते। परंतु केवल इसी बात के कारण सहानुभूति और दया करनेवाले को अपने कर्त्तव्य से विमुख नहीं हो जाना चाहिए। जीवन में होनेवाली कठिनाइयों में से यह भी एक कठिनाई है जिसे पार करना आवश्यक है। नीच से नीच और सबसे गया-बीता मनुष्य भी उस पारस्परिक सहानुभूति और दया का अधिकारी है जो प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है। किसी निर्दय और कठोर-हृदय मनुष्य की प्रसन्नता समस्त मानव प्रसन्नता का ठीक वैसा ही अंश है जैसा अंश कि किसी बहुत बड़े महात्मा और परोपकारी की प्रसन्नता है। और फिर कोई मनुष्य बिना अपनी भलाई या बुराई किए किसी दूसरे के साथ भलाई या बुराई भी तो नहीं कर सकता।

मनुष्य के हृदय में प्रेम उत्पन्न करनेवाली सब से बड़ी शक्ति सहानुभूति है। ऐसे नीच और दुष्ट मनुष्य बहुत ही

थोड़े होंगे जिनका हृदय सहानुभूति पाकर भी न पसीजता हो। बल-प्रयोग की अपेक्षा सहानुभूति का कहीं अधिक उत्तम प्रभाव होता है। जिन लोगों को ठीक मार्ग पर लाने के लिये बल-प्रयोग का कुछ भी परिणाम नहीं होता, उन लोगों के साथ यदि कुछ दया का व्यवहार किया जाय अथवा उनसे कुछ प्रेमपूर्ण बातें की जायँ तो वे बहुत शीघ्र ठीक मार्ग पर आ जाते हैं। सहानुभूति का फल प्रेम और आज्ञाकारिता है और कठोरता या रुखाई का फल विद्रोह और विरोध है। किसी ने कहा है कि सज्जनता में जितनी शक्ति है, बल-प्रयोग में उससे आधी भी शक्ति नहीं है।

इसी सहानुभूति का क्षेत्र जब विस्तृत हो जाता है, तब वह सार्वजनिक सेवा और परोपकार का रूप धारण कर लेती है। यही सहानुभूति मनुष्य को इस बात के लिये उत्साहित और तत्पर करती है कि वह अपने दूसरे भाइयों को अनेक प्रकार के दुःखों और कष्टों से मुक्त करे, उनमें सद्गुणों, सद्विचारों और सद्व्यवहारों का प्रचार करे और मानव जाति के बिछुड़े और विरुद्ध हुए परिवारों को शांति और प्रेम के बंधनों से बाँधकर एक करे। जिस मनुष्य की दशा औरों से अच्छी हो, जो अधिक धनवान हो, जो विशेष ज्ञानवान हो, जो अधिक शक्ति-संपन्न हो, उसका यह प्रधान कर्त्तव्य है कि वह दूसरों के कल्याण और उन्नति के लिये यथासाध्य अपने धन, बल, ज्ञान और समय का उपयोग और व्यय करे।

दूसरों के कष्ट-मोचन और कल्याण के लिये विशेष धन अथवा बुद्धि की आवश्यकता नहीं होती। महात्मा बुद्ध और उनके शिष्यों ने धन की सहायता से संसार के बहुत बड़े भाग में बौद्ध धर्म का प्रचार नहीं किया था। ईसाई धर्म्म का प्रचार भी प्रेम और भ्रातृभाव के द्वारा ही हुआ था। प्रत्येक मनुष्य एक दूसरे की सहायता करने के लिये ही है। बलवान को दुर्बल की सहायता करनी चाहिए; धनवान को दरिद्र की सहायता करनी चाहिए, ज्ञानी को अज्ञान की सहायता करनी चाहिए। जिस मनुष्य को ईश्वर ने जितनी शक्ति दी हो, उसे उतनी ही शक्ति का सदुपयोग करके दूसरों की सहायता और मंगल करना चाहिए और इस प्रकार अपने जीवन का महत्व बढ़ाना चाहिए। जिस समय परिस्थित प्रतिकूल न हो, उस समय मनुष्य को अपनी नैतिक और आत्मिक शक्ति पर पूरा पूरा अधिकार होता है। और तब वह अपने लिये भी और दूसरों के लिये भी बहुत से अच्छे अच्छे काम कर सकता है।

बहुत से लोग अपनी रुचि के अनुसार भिन्न भिन्न प्रकार के आमोद प्रमोद में सुख मानते हैं। पर यदि वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो सच्चा सुख केवल प्रेमपूर्ण व्यवहारों और कार्यों में ही मिल सकता है। जो लोग अपने आप पर अधिकार न रखते हों, जो दूसरों के प्रति अपने कर्त्तव्य न समझते हो, जो सदा अपने ही कृत्रिम आनंद-मंगल की चिंता में लगे रहते

हों अथवा जो उत्तम कार्य भी प्रेम, दया और सहानुभूति की प्रेरणा से नहीं बल्कि तुच्छ स्वार्थों के कारण, अपने मानसिक संतोष के लिये अथवा इस कारण करते हों कि उसके न करने के कारण उनकी आत्मा कचोटती है, तो ऐसे आदमी अवश्य ही दया के पात्र हैं। बहुत से लोग ऐसे होते हैं जो अपने आपका, अपने सुखों का बहुत अधिक ध्यान रखते हैं, पर दूसरों का प्रायः बिलकुल ध्यान नहीं रखते। कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो समाज में दूसरों के साथ देखने में बहुत ही उत्तम व्यवहार करते हैं: परंतु जिन लोगों के साथ उन्हें काम पड़ता है, जिनके साथ उनका बहुत ही घनिष्ट संबंध होता है, उनके साथ उनका व्यवहार बहुत ही अनुचित और निंदनीय होता है। एक बार एक छोटे बालक को स्वर्ग का वर्णन सुनाया गया और कहा गया कि वहाँ मरे हुए संबंधियों से भेंट होगी। उस बालक ने पूछा कि क्या वहाँ पिताजी भी होंगे? उत्तर मिला, हाँ अवश्य। बालक चट कह बैठा, तब मैं वहाँ नहीं जाऊँगा।

आजकल लोगों में झूठी या दिखौआ सहानुभूति बहुत देखने में आती है। बल्कि कहा जा सकता है कि बहुत से लोग ऐसे होते हैं जो न तो किसी का दुख दूर करते हैं और न कोई अत्याचार रोकते हैं, पर फिर भी वे दुखी या अत्याचारी को देखकर क्रोध प्रकट करने का अभ्यास सा कर लेते हैं। ऐसे आदमियों को कभी किसी के साथ वास्तविक सहानु-

भूति नहीं होती। न तो उनके हृदय पर किसी बात का प्रभाव पड़ता है न वे किसी दूसरे के हृदय पर कोई प्रभाव डाल सकते हैं। सच्चे मनुष्य वही कहे जा सकते हैं जो या तो अपना शुद्ध कर्त्तव्य समझकर या अपने आंतरिक सद्गुणों की प्रेरणा से ही कोई अच्छा काम करते हों; और ऐसे ही कामों का दूसरे मनुष्यों के आचरणों पर प्रभाव पड़ता है। बात यह है कि सुजनता और सहानुभूति के कारण दूसरों में बहुत ही शुद्ध और पवित्र भाव उत्पन्न किए जा सकते हैं। जो मनुष्य अपने आपको भूलकर दूसरों की दुःखपूर्ण अवस्थाओं को स्वयं अपनी ही अवस्था समझने लगता है, जो अपने आपको इस प्रकार दूसरों में परिणत कर देता है और सामाजिक, नैतिक अथवा धार्मिक दृष्टि से यथासाध्य दूसरों की सहायता करता है, वह अवश्य ही दूसरों पर अलौकिक प्रभाव डालता है। अपने स्वार्थ को तो वह मानो तिलांजलि दे देता है। ऐसा ही आदमी संसार की सब प्रकार की कठिनाइयों और कष्टों से सदा बचा रहता है; और जब कभी उसकी परीक्षा का कोई समय आता है, तब वह उस परीक्षा में पूर्ण रूप से उत्तीर्ण होता है। एक बात और है। ऐसे आदमी परीक्षा की समाप्ति पर और भी अधिक नम्र तथा सज्जन हो जाते हैं। जो मनुष्य जितना ही अच्छा और सज्जन होगा, वह दूसरों के साथ उतनी ही अधिक सहानुभूति भी दिखलावेगा। दूसरों के दुःखों और कठिनाइयों आदि का अनु-

भव करने की अवस्था को ही सहानुभूति कहते हैं। ऐसा मनुष्य मानों पारस होता है। उसके संसर्ग से दूसरे मनुष्यों का बहुत बड़ा नैतिक कल्याण होता है।

आजकल संसार में सहानुभूति और दया का बहुत ही अभाव देखा जाता है। स्वामी और सेवक सदा एक दूसरे से बहुत दूर रहते हैं। वे एक दूसरे का कुछ भी ध्यान नहीं रखते, उनमें परस्पर सहानुभूति नहीं होती। विलायत के बड़े बड़े कारखानों में प्रायः मालिकों और नौकरों में बड़े बड़े झगड़े हुआ करते हैं जिनके कारण दोनों पक्षों में कुभावों की वृद्धि हुआ करती है। कहीं किसी मालिक की गाड़ी उलट दी जाती है, कहीं किसी नौकर का घर जला दिया जाता है। घर-गृहस्थी में काम करनेवाले नौकर-चाकरों की भी यही दशा होती है। बड़े बड़े शहरों में यह दुर्दशा और भी अधिक देखने में आती है। बड़े बड़े घरों में प्राय नित्य ही पुराने नौकर निकाले और नए नौकर रखे जाते हैं। यद्यपि आपको कुछ घर ऐसे भी मिल जायँगे जिनमें नौकरों के साथ घर के लोगों का सा व्यवहार होता हो, पर अधिकांश घरों में यही देखा जायगा कि अगर मालिक अपने नौकरों को दिन रात डाँटता डपटता और उनके साथ झगड़ता रहता है और मालिकनें दिनरात मज़दूरनियों को कोसती काटती रहती हैं। हमें एक ऐसी गृहस्थी का अनुभव है जिसमें कभी तीन चार महीने से अधिक कोई मज़दूरनी या नौकर नहीं ठहरा और न

लड़कों को पढ़ानेवाला कोई मौलवी या मास्टर ही इससे अधिक समय तक अपने पद पर स्थित रह सका। नए नौकर के आने के दस पाँच दिन बाद ही उसके कामों में व्यर्थ के दोष निकालना आरंभ हो जाता है और बात बात पर घर के सब लोग मिलकर नौकर के मानों पीछे पड़ जाते हैं। महीने दो महीने में ही उस नौकर की इतनी दुर्दशा हो जाती है कि वह आपसे आप बिना जवाब पाए ही नौकरी छोड़ बैठता है। उस गृहस्थी में आठ वर्ष की एक बालिका है जो नौकरों के साथ दुर्व्यवहार करने, उन्हें डाँटने-डपटने और बुरा-भला कहने में घर भर के और सब लोगों से बढ़ जाती है। भला ऐसी बालिका बड़ी होकर कभी किसी दुःखी के साथ कौन सा उपकार कर सकेगी और उसकी संतानें संसार में दुःखों, कुभावों और विरोधों की कितनी वृद्धि न करेंगी।

सहानुभूति का अभाव समाज के लिये बहुत ही अनिष्टकर है। हम लोग एक दूसरे को उतना नहीं जानते जितना कि जानना चाहिए, और न एक दूसरे की उतनी चिंता ही करते हैं जितनी चिंता वास्तव में सब को होनी चाहिए। आजकल पाश्चात्य सभ्यता की कृपा से संसार में स्वार्थ का राज्य और भी विस्तृत तथा दृढ़ होता जाता है। आमोद-प्रमोद अथवा धन की बहुत अधिक चिंता में पड़कर लोग बहुत ही कठोरहृदय और दूसरों के प्रति बहुत ही उदासीन हो जाते हैं। सब लोग दूसरों का ध्यान बिलकुल

छोड़कर केवल अपनी ही चिंता में लगे रहते हैं। यदि हमारे सिर पर कुछ भी बोझ न हो तो भी हम उन लोगों की कुछ भी सहायता नहीं करते जो भारी भारी बोझों के कारण दबे जाते हैं। जज टालफोर्ड ने अपने अंतिम समय में कहा था—यदि कोई मुझसे पूछे कि अँगरेजी समाज के भिन्न भिन्न वर्गों को परस्पर मिलाने के लिये सबसे अधिक आवश्यकता किस बात की है, तो मैं कहूँगा कि सहानुभूति की। लेकिन हमारी सम्मति में तो केवल अँगरेजी समाज की ही नहीं बल्कि और सब समाजों की भी यही अवस्था है। सहानुभूति के अभाव के कारण समाज की जो दुर्दशा होती है, उसकी ओर जज महाशय का पूरा पूरा ध्यान गया था। उनका मत था कि सहानुभूति का यही अभाव लोगों को बड़े बड़े अत्याचारों, अपराधों और कपटपूर्ण व्यवहारों की ओर प्रवृत्त करता है। संसार के मनुष्य मात्र में जो भ्रातृत्त्व है, उसे तो लोग भूल जाते हैं और स्वार्थ के वश होकर, अपनी विषयवासनाओं को पूर्ण करने के लिये दूसरों की बड़ी से बड़ी हानि करने में भी संकोच नही करते। वे दूसरों की चिंता ही नहीं करते। कहते हैं--"उनसे हमें क्या मतलब, वे आपही अपनी फिक्र कर लेंगे। उन्होंने तो कभी हमारे लिये कुछ भी नहीं किया! हम उनके लिये क्यों अपने आपको बैठे-बैठाए आफत में डालने जायँ? और फिर जो उनके भाग्य में बदा है, वह तो होगा ही: उन्होंने जो कुछ किया है, उसका फल भोगें।"

लेकिन जो लोग इस प्रकार दूसरों की ओर से उदासीन रहते हैं, वे सहज में ही नहीं छूट जाते। जो मनुष्य दूसरों का ध्यान नहीं रखता, जो दूसरों के साथ सहानुभूति नहीं करता, जो दूसरों को सहायता नहीं देता, उसे लगे हाथों संसार से इसका बदला भी मिल जाता है। एक मनुष्य ऐसा है जो दीन दुखियों के रहने के गंदे स्थानों की ओर से बिलकुल उदासीन है और जो उनकी स्वच्छता आदि के लिये कुछ भी उद्योग नहीं करता। गरीबों के रहने के उन गँदे स्थानों से ज्वर उठता है जो उन लोगों की भी पूरी पूरी खबर लेता है जो सामर्थ्य रहते भी गंदगी दूर नहीं करा सके थे। एक मनुष्य है जो दूसरों की दरिद्रता, दुष्टता और नैतिक अधःपात की ओर से बिलकुल उदासीन रहता है। लेकिन चोर और डाकू उससे भी बदला चुका ही लेते हैं। जो मनुष्य राजनीतिक बातों और अपने देश की दुर्दशा की ओर से बिलकुल उदासीन रहता है, वह शीघ्र ही नए नए करों और अत्याचारपूर्ण कानूनों के सिक्कड़ों से जकड़ा जाता है। लेकिन दुःख तो यह है कि तब भी उसकी यह उदासीनता दूर नहीं होती। अर्थशास्त्र के पंडित कहा करते हैं कि मालिक और नौकर का संबंध एक सौदा है—इतना काम करो और इतने रुपए लो, उनकी समझ में यह केवल एक प्रकार के समझौते के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। लेकिन नीतिमानों, दार्शनिकों, राजनीतिज्ञों और साधरण सहृदय मनुष्यों के लिए स्वामी और सेवक का संबंध एक सामा-

जिक बंधन है जो दोनों पक्षों के जिम्मे कुछ ऐसे कर्त्तव्य और प्रेमपूर्ण व्यवहार लगाता है जो कि मनुष्यों की पारस्परिक सहानुभूति के कारण उत्पन्न होते हैं। दोनों पक्षों में दया और सहानुभूति का व्यवहार होना चाहिए, दोनों पक्षों को एक दूसरे का आदर करना चाहिए और उसका महत्त्व समझना चाहिए। जहाँ यह बात न हो, वहाँ सुख-समृद्धि और मंगल की आशा रखना व्यर्थ है। आजकल अर्थनीति की एक नई शाखा निकली है जो सभी बातों में उपयोगिता का सबसे अधिक ध्यान रखती है। उसे उपयोगितावाद कह सकते हैं। उसका सिद्धांत यह है कि जिस चीज से जितना ही अधिक काम किया जा सके, उससे उतना अधिक काम लेना चाहिए; और आर्थिक दृष्टि से जिससे जितना अधिक लाभ हो सकता हो, उससे उतना अधिक लाभ कर लेना चाहिए। ऐसे सिद्धांतवालों की दिल्लगी उड़ाते हुए सिडनी स्मिथ ने लिखा है कि मनुष्य इतना सख्त है कि अगर तुम उसके ऊपर से कोई बड़ी भारी गाड़ी भी ले जाओ तो उस आदमी के शरीर पर गाड़ी के पहियों का कोई चिह्न न पड़ेगा। अगर तुम बरमे से उसके शरीर में छेद करना चाहो तो अवश्य ही उसमें से बुरादा भी निकलेगा। ऐसे लोग मनुष्यों को सिर्फ मशीनें समझते है और भावों अथवा हृदय की वृत्तियों की ओर उनका ध्यान ही नहीं जाता।

लोग एक दूसरे का आदर करना भूल गए है। अब तो

सबको केवल धन ही धन का ध्यान रह गया है। जिसे देखो वह केवल अपने स्वार्थ, अपने लाभ, अपने ही हित के लिये केवल तरह तरह के प्रयत्न ही नहीं बल्कि तरह तरह के छल-कपट भी करता है। प्राचीन काल में हमारे पूर्वजों ने निस्स्वार्थ और भ्रातृभाव से जीवनयात्रा का निर्वाह करने के लिये जो सिद्धांत स्थिर किए थे और जिन सिद्धांतों को हम इधर बहुत दिनों से भूल गए हैं, उन्हीं सिद्धांतों को अब फिर से ग्रहण करने की आवश्यकता आ पड़ी है। बड़े बड़े स्कूलों और कालिजों की जो शिक्षा हमारे लिये आवश्यक है,वह तो है ही; हमारे लिये उससे भी अधिक सदाचार, विचारशीलता, भावुकता,सहानुभूति,दया और प्रेम आदि की शिक्षा की आवश्यकता है। संसार में जो आनंद बहुत ही उच्च कोटि का होता है, वह केवल धन की ही सहायता से प्राप्त नहीं किया जा सकता। उसके लिये सहृदयता, भावुकता, दयालुता और परोपकारिता आदि की आवश्यकता होती है। एक अच्छे विद्वान् का मत है कि धन प्राप्त करने से पहले मनुष्य को जितनी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, उतनी ही कठिनाइयों का सामना धन प्राप्त कर लेने के उपरांत भी करना पड़ता है। लेकिन धन प्राप्त कर लेने पर मनुष्य उन कठिनाइयों को तो बिलकुल भूल जाता है जो उसे धन प्राप्त करने में होती हैं और तब उसके सामने दूसरी अनेक कठिनाइयाँ आ उपस्थित होती हैं। यदि वह केवल धन एकत्र करने के अतिरिक्त और कुछ

भी नहीं करता या जानता तो उसका जीवन बहुत ही दुःख-पूर्ण हो जाता है। आरंभ से न तो उसे पुस्तकों के द्वारा आनंद प्राप्त करने का अभ्यास होता है, न ज्ञान विज्ञान में उसका चित्त लगता है और न वह किसी ऐसे दूसरे मार्ग में जा सकता है जिस मार्ग में जाने से चित्त को शांति और दुःखों का ह्रास होता है। और ये सब बातें उस अवस्था में होती हैं जब कि उसके हाथ में स्वयं अपने तथा बहुत से दूसरे लोगों के दुःख दूर करने का बहुत बड़ा साधन होता है। वह यदि चाहे तो अनाथों का नाथ हो सकता है, दीन-दुखियों का अन्न-दाता हो सकता है और असहायों का सहायक हो सकता है। लेकिन उसके किए कुछ भी नहीं हो सकता। दीन दुखियों के कष्टमोचन की अपेक्षा उसे स्वयं अपने एकत्र किए हुए धन की ही चिंता होती है। इस प्रकार वह अपने दुःखों का भी कारण बनता है और दूसरों के दुःखों का भी। ऐसे लोगों को इस बात का सदा ध्यान रखना चाहिए कि मनुष्य धन तथा इसी प्रकार के दूसरे ऐहिक पदार्थों की जितनी ही कम चिंता करता है, उसकी जीवन-यात्रा उतने ही ठीक मार्ग में होती है और साथ ही वह उतना ही अधिक सुखी भी होता है। निस्स्वार्थ जीवन से सब प्रकार के दोषों और बुराइयों का नाश होता है, अनुचित आकांक्षाओं और वासनाओं की क्षति भी होती है; आत्मा को बल प्राप्त होता है; और मन उच्चतर विचारों, भावों और कार्य्यों की ओर लगता है। सुप्रसिद्ध

विद्वान् सुकरात ने कहा है कि जिस मनुष्य की आवश्यकताएं जितनी ही कम होती हैं, वह ईश्वर के उतना ही समीप होता है।

हम लोग जो काम करते हैं, वह केवल अपने ही लिये नहीं करते बल्कि दूसरों के लिये भी करते हैं। इसका मुख्य कारण यही है कि ईश्वर ने ही हमें ऐसी स्थिति में उत्पन्न किया है कि हम अपने साथ साथ औरों के लिये बिना कुछ किए रह ही नहीं सकते। अब औरों के लिये हमारा यह काम जितना ही कम होगा, हमारा जीवन भी उतना ही निरर्थक और दुःखपूर्ण होता जायगा। और यदि औरों के लिये होनेवाले हमारे कामों की अधिकता होती जायगी तो उससे हमारे जीवन की सार्थकता और उसके साथ ही साथ हमारे सुख भी उतने ही मान में बढ़ते जायेंगे। एक साधारण सी बात यह है कि केवल धनसंग्रह अथवा निज के लिये जो काम किए जाते हैं, उनकी अपेक्षा नैतिक नियम, पारिवारिक बंधन, गार्हस्थ्य प्रेम, आदि आदि बातें कहीं अच्छी हैं। और यदि इन्हीं सब बातों को बढ़ाकर हम सामाजिक बंधनों और देशप्रेम तक पहुँचा दें तो हमारा वह जीवन उस जीवन की अपेक्षा कहीं अधिक श्रेष्ठ हो जायगा जिस जीवन में हम केवल धनसंग्रह अथवा अपनी इंद्रियों को ही तृप्त करके चुपचाप बैठे रह जाते। एपिक्टेटस का मत है कि जो मनुष्य धन-संपत्ति, भोग-विलास और शान-शौकत के पीछे जान देता

है, वह कभी मनुष्यों के साथ प्रेम नहीं कर सकता। और संत अंथनी का मत है कि जो व्यक्ति मनुष्यों के साथ प्रेम करता है, वास्तव में उसीका जीवन सार्थक है। प्रेम मानो समस्त सद्गुणों, सद्विचारों और सत्कार्य्यों का मूल है और प्रेम से ही मनुष्य-जाति के कष्टों का निवारण हो सकता है।

मनुष्य को सहानुभूति और प्रेम की सब से पहले और सब से बड़ी आवश्यकता अपनी गृहस्थी और अपने परिवार में होती है। सिसरो ने कहा है कि पहला समाज स्त्री है, उसके बाद परिवार और तब राज्य। सर आर्थर हेल्प्स ने एक स्थान पर कहा है कि "किसी मनुष्य को दिन पर दिन धनवान् या प्रतिष्ठित होते हुए देखकर तुम समझ लेते हो कि उसने अपने जीवन में अच्छी सफलता प्राप्त कर ली है। लेकिन यदि उसकी गृहस्थी अव्यवस्थित हो, उसमें प्रेम का बंधन न हो, उसके परिवार के लोग उसके दयापूर्ण कृत्यों और वचनों के अभाव के कारण असंतुष्ट हों तो मैं कहूँगा कि उस मनुष्य को कभी सफलता प्राप्त नहीं हुई। वह चाहे अपनी कितनी ही हैसियत क्यों न बना ले, उसने अपने आगे कितना ही बड़ा मैदान क्यों न मार लिया हो, लेकिन याद रखना चाहिए कि उसने अपने पीछे एक बहुत बड़ा और जरूरी किला बिना फतह किए हुए ही छोड़ दिया है।" यदि गृहस्थी को हम एक राज्य मान लें तो उसके संचालक को उसका राजा मानना पड़ेगा। और यदि उस गृहस्थी में अव्य-

व्यवस्था हो, लोग दुःखी और असंतुष्ट हों तो उससे संचालक की अयोग्यता सिद्ध होगी। ठीक यही बात एक बार जस्टिस रानडे ने भी कही थी। सभी बातों का आरंभ गृहस्थी या परिवार से होता है; और वे बातें चाहे अच्छी हों या बुरी, बढ़कर सारे समाज पर अपना अधिकार कर लेती हैं। ऐसी दशा में गृहस्थी के संचालकों का यह परम कर्त्तव्य है कि वे अपने घर में पूर्ण सुव्यवस्था रखें और सब के साथ सहानुभूति और दया का व्यवहार करें; और घर की मालकिन इस काम में मालिक का हाथ बँटावें। पुरुष पर गृहस्थी के शासन का भार होना चाहिए और स्त्री पर उसकी व्यवस्था का। गृहस्थी में प्रायः बड़े बड़े कठिन प्रसंग आया करते हैं। उस समय दंपति का कर्त्तव्य होता है कि वे आपे से बाहर न हो जायँ और स्वार्थ-त्याग, दया, सहानुभूति और प्रसन्नता-पूर्वक उपस्थित कठिनता दूर करें।

गृहस्थी के उपरांत सहानुभूति की आवश्यकता समाज में होती है। जिस समय किसी दूसरे मनुष्य पर कोई विपत्ति आती है, उस समय देखनेवालों में से जो मनुष्य सहृदय होता है, उसके हृदय में आपसे आप सहानुभूति उत्पन्न हो जाती है और वह चटपट उसका कष्ट दूर करने के प्रयत्न में लग जाता है। इस पुस्तक में अब तक अनेक ऐसे उदाहरण आ चुके हैं जिनमें केवल सहानुभूति के कारण बहुत बड़े बड़े कार्य्यों के होने का उल्लेख है। लेकिन यहाँ एक और उदाहरण

दे देना आवश्यक जान पड़ता है। एक दिन लेडी वाटसन समुद्र के किनारे घूम रही थीं। कुछ दूर पर उन्होंने देखा कि एक चट्टान पर एक आदमी खड़ा है और समुद्र का पानी बढ़कर उसके चारों ओर पहुँच गया है। लेडी को यह तो न मालूम हो सका कि वह कौन है, लेकिन उन्होंने इतना अवश्य समझ लिया कि यदि उस मनुष्य को बचाने का प्रयत्न न किया जायगा तो समुद्र की लहरें उसे अवश्य बहा ले जायँगी। लहरें बराबर बढ़ती ही जाती थीं और उस मनुष्य की प्राण-रक्षा असंभव सी हो चली थी। उन्होंने बहुत अधिक पुरस्कार देकर और बहुत कठिनता से कुछ मल्लाहों को उस मनुष्य के प्राण बचाने का प्रयत्न किया। वे मल्लाह नाव लेकर उस चट्टान तक पहुँचे और उस मनुष्य को लेकर बहुत कठिनता से किनारे तक आए। भला उस समय लेडी वाटसन को कितना अधिक आश्चर्य हुआ होगा जब कि उन्होंने देखा होगा कि हमने और किसी के नहीं स्वयं अपने पति के ही प्राण बचाए हैं। नाव पर से सर विलियम वाटसन उतर रहे थे।

कुछ लोग केवल इसी कारण किसी के साथ सहानुभूति नहीं दिखलाते और उपकार नहीं करते कि कहीं हम ठगे न जायँ। ऐसे लोगों को नीचे लिखी घटना से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। यह घटना एक बार विलायत के एक अँगरेजी अखबार में छपी थी। एक दिन एडिनबरा में एक होटल के दरवाजे पर दो सज्जन खड़े हुए थे। उस दिन सरदी बहुत

सैर थी। उस समय एक छोटा दरिद्र बालक नंगे पाँव और फटे पुराने कपड़े पहने हुए उनके पास आया और कहने लगा कि आप दिया सलाई ले लीजिए। उनमें से एक सज्जन ने कहा कि नहीं भाई हमें दिया सलाई नहीं चाहिए। बालक ने कहा कि यह बक्स एक ही पेनी (एक छोटा सिक्का) का है; ले लीजिए, कोई बड़ी बात नहीं है। उत्तर मिला "नहीं भाई, हमें दिया सलाई की आवश्यकता नहीं है"। बालक ने कहा, अच्छा तो लीजिए, मैं आपको एक पेनी में दो बक्स दे दूँगा। उन भले आदमी ने अपना पीछा छुड़ाने के लिए उस बालक से एक बक्स दिया सलाई का ले लिया,लेकिन जब जेब में हाथ डाला, तब उन्हें मालूम हुआ कि पास में फुटकर रेजगी नहीं है। उन्होंने कह दिया कि आओ भाई, इस समय नहीं, कल लेंगे। लेकिन बालक फिर गिड़गिड़ाकर कहने लगा कि नहीं सरकार, अभी ले लीजिए। मैं जाकर रेजगी भुना लाऊँगा; क्योंकि इस समय मुझे बहुत भूख लगी है। उन सज्जन ने उस बालक को एक शिलिंग दे दिया और वह बालक उसे भुनाने के लिये चला गया। वे बहुत देर तक आसरे में खड़े रहे, पर वह बालक लौटकर न आया। तब उन्होंने समझ लिया कि चलो एक शिलिंग गया। लेकिन फिर भी उस बालक के चेहरे से जो सच्चाई झलकती थी, उसका ध्यान करके उन्होंने चित्त में उस बालक के संबंध में कोई बुरा विचार न आने दिया। संध्या के समय नौकर ने आकर उन सज्जन को सूचना दी कि एक

छोटा बालक आपसे मिलना चाहता है। उन्होंने तुरंत उस बालक को अपने पास बुलवाया। वह बालक उस दिया सलाई बेचनेवाले बालक से कुछ छोटा था। परंतु उसके कपड़े भी उसी बालक के कपड़ों की तरह बिलकुल फटे हुए थे और वह भी उसी बालक की तरह दुबला पतला और दरिद्र जान पड़ता था। थोड़ी देर तक वह बालक इधर उधर इस प्रकार देखता रहा मानो वह कुछ ढूँढ रहा हो; और तब बोला —"महाशय! क्या आपने ही मेरे भाई से दिया सलाई का बक्स लिया था"? उत्तर मिला—"हाँ"। बालक बोला —"यह लीजिए आपके शिलिंग में के बाकी चार पेंस हैं। मेरा भाई नहीं आ सकता। वह एक गाड़ी के नीचे दब गया है जिससे उसकी दोनों टाँगें टूट गई हैं और डाक्टर कहते हैं कि वह मर जायगा। उसके दिया सलाई के बक्स और आपकी रेजगी गाड़ी के नीचे दबने के समय इधर उधर हो गई थी। हम लोगों के पास यही चार पेंस थे जो मैं आपको देने आया हूँ।" यह कहकर उसने चार पेंस का एक सिक्का टेबुल पर रख दिया और फूट फूटकर रोना आरंभ किया। उन सज्जन ने उस बालक को पहले तो ढारस दिलाकर भरपेट भोजन कराया और तब वे उसके साथ उसके भाई को देखने के लिए चल पड़े। वहाँ जाकर उन्होंने देखा कि वह बड़ा बालक बड़ी ही दरिद्रावस्था में पड़ा है और पास ही नशे में चूर उसकी विमाता बैठी है। उन्हें यह भी पता लग गया

पास ही नहीं फटकते। अपनी परिस्थितियों के कारण वे दुखियों और दरिद्रों के दुःख और दरिद्रता का अनुमान ही नहीं कर सकते। लेकिन दरिद्रों के लिये यह बात नहीं है। वे अपने दरिद्र वर्ग को छोड़कर और कहीं जा ही नहीं सकते। वे ही एक दूसरे के दुःख का भली भाँति अनुभव कर सकते हैं और वे ही इस बात को अच्छी तरह जान सकते और जानते हैं कि कौन मनुष्य कितनी सहानुभूति और दया का पात्र है। यों धनवानों के दान की लोग चाहे जितनी प्रशंसा कर लें, परंतु उनका वह दान दरिद्रों के दान के सामने कुछ भी नहीं होता। दरिद्रता, कष्ट और विपत्ति के समय वे एक दूसरे की जितनी सहायता करते हैं, धनवान उस सहायता तक स्वप्न में भी नहीं पहुँचते।

अब हम सहानुभूति और दया के एक दूसरे क्षेत्र को लेते हैं। मनुष्यों के साथ सहानुभूति करनेवाले तो बहुत से मनुष्य निकल आते हैं, परंतु गूँगे और असहाय पशुओं की सहायता करनेवाले बहुत ही थोड़े लोग निकलते हैं। आजकल बैलों, घोड़ों, चिड़ियों आदि सभी जीवों के साथ जितनी निर्दयता का व्यवहार होता है, उसका अनुमान करके सहृदय मनुष्य का कलेजा काँप उठता है। हमारे देश में यद्यपि भैंसों की लड़ाई का अंत हो गया है, पर स्पेन देश में आज तक मनो-विनोद के लिए भैंसे लड़ाए जाते हैं। हमारे यहाँ भैंसों का स्थान मेढों ने ले लिया है। इसके अतिरिक्त हमारे यहाँ अब

नए, बटेर और मुरगे लड़ाए जाते हैं। भैंसों के जिस भीषण युद्ध को देखकर बड़े बड़े धीर काँप जाते हों, उन युद्धों को देखकर स्पेन की कोमलांगी स्त्रियाँ प्रसन्नता से तालियाँ बजाती हैं। इसी संबंध में एक सज्जन ने कहा है कि स्पेन की स्त्रियाँ और पुरुष पशुओं के प्रति बहुत ही कम दया करते हैं और छोटे वर्ग के लोग तो बिलकुल ही नहीं करते। यूरोप की स्त्रियों के लिए केवल बढ़िया बढ़िया पर प्राप्त करने के ही हेतु से सारे संसार में करोड़ों पक्षी मारे जाते हैं। मनुष्यों के खाने के लिए जितने पशुओं की हत्या होती है, उनसे कहीं अधिक हत्या सिर्फ शौकियः होती है। यह जीवहत्या पाश्चात्य देशों में इतनी अधिक बढ़ गई है कि प्रायः सभी जगह सरकार को बड़े बड़े कानून बनाने पड़े हैं। लेकिन फिर भी उनसे जीवों की यथेष्ट रक्षा नहीं होती। इसका मुख्य कारण यही है कि बालकों को कोरी किताबें तो पढ़ा दी जाती हैं, परंतु उन्हें सुजनता, दयालुता और विश्वप्रेम आदि की शिक्षा नहीं दी जाती। उनका मस्तिष्क तो तरह तरह की बातों से भर दिया जाता है, परंतु हृदय बिलकुल शून्य छोड़ दिया जाता है। इसी लिये लोग केवल जीवों के साथ ही नहीं बल्कि मनुष्यों के साथ भी बहुत ही निर्दयता का व्यवहार करते हैं। छोटे छोटे बालकों के साथ उनके माता-पिता और शिक्षक बहुत ही निर्दयता का व्यवहार करते हैं जिसका परिणाम यह होता है कि बालकों के बहुत से सद्गुण नष्ट हो जाते हैं। लोग

बालकों को सुधारने के विचार से ही उनकी इच्छाओं को कभी पूर्ण नही होने देते और इस प्रकार उनकी इच्छा-शक्ति का नाश कर डालते हैं। वे यह नही जानते कि बालकों की इच्छाशक्ति का नाश मानों उनके सारे भविष्य का नाश है। आवश्यकता बालकों की इच्छाशक्ति का नाश करने की नही है,बल्कि उसे ठीक मार्ग में लगाने की है, और यह काम बालकों को डरा धमकाकर अथवा मार-पीटकर नही किया जा सकता। बहुत अधिक मारने-पीटने और डराने-धमकाने के कारण ही बालकों का आचरण बिगड़ जाता है। और इसी प्रकार बिगड़े हुए आचरणवाले लोग दूसरे मनुष्यों और पशुओं आदि के साथ, जिनमें से अधिकांश बहुत ही सच्चे, आज्ञाकारी और काम के होते हैं, अनेक प्रकार के अत्याचार करते हैं।

नवाँ प्रकरण

उत्तरदायित्व

कर्त्तव्य का आरंभ जन्म के साथ और अंत मृत्यु के साथ होता है; अर्थात् इस प्रकार कर्त्तव्य हमारे सारे जीवन के साथ लगा रहता है। वह कर्त्तव्य हमें उचित कार्य्य करने की आज्ञा देता है और अनुचित कार्य्य करने से रोकता है। वही कर्त्तव्य हमें गृहस्थ बनाता है और अपने बाल-बच्चों को शिक्षा-दीक्षा देकर उन्हें सुयोग्य बनाने और सन्मार्ग पर लगाने के लिये हमें उत्साहित करता है। संसार में सब के प्रति सब का कुछ न कुछ कर्त्तव्य होता है। मालिक के प्रति नौकर का, नौकर के प्रति मालिक का, पति के प्रति स्त्री का, स्त्री के प्रति पति का, पुत्र के प्रति माता-पिता का और माता पिता के प्रति पुत्र का कुछ न कुछ कर्त्तव्य हुआ करता है। अपने पड़ोसी, अपने देश और अपने राज्य के प्रति भी हमारा कुछ कर्त्तव्य हुआ करता है। और ऐसी दशा में जब कि हमारा कर्त्तव्यक्षेत्र इतना विस्तृत हो, स्वभावतः हमारे ऊपर बहुत बड़ा उत्तरदायित्व आ जाता है। मनुष्य जब तक अपने कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व को खूब अच्छी तरह समझ न ले और उसके अनुसार ठीक ठीक और पूरा पूरा कार्य्य न करने लगे, तब तक वह

ठीक प्रकार से अपना जीवन व्यतीत ही नहीं कर सकता—उसका जीवन सार्थक हो ही नहीं सकता।

मानव समाज में कुछ सामाजिक अधिकार हुआ करते हैं, जिनका ध्यान और पालन स्वभावतः आवश्यक हुआ करता है। यदि उन अधिकारों का ध्यान न रखा जाय और उनका अतिक्रमण किया जाय—उत्तरदायित्व के ज्ञान को नष्ट होने दिया जाय—तो समाज भी नष्ट हो जाता है। सर वाल्टर स्काट ने कहा है—"यदि मनुष्य एक दूसरे की सहायता करना छोड दें तो मनुष्य जाति का बहुत ही शीघ्र अंत हो जायगा। जन्म से मरण तक हम सदा दूसरों की सहायता पर निर्भर रहते हैं। यदि मनुष्य एक दूसरे की सहायता न करें तो उनके जीवन का ही अन्त हो जाय, इसलिये जिसे जिस सहायता की आवश्यकता हो, उसे अपने साथियों से वह सहायता माँगने का अधिकार है। और जो मनुष्य वह सहायता करने की शक्ति रखकर भी सहायता नहीं करता, वह अपराधी है।"

पहले के प्रकरणों में हमने यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि अच्छे उदाहरणों और उत्तम आदर्शों से कितने अधिक लाभ होते हैं। यदि संसार में सब से अधिक बहुमूल्य कोई पदार्थ हो सकता है अथवा कोई ऐसा पदार्थ हो सकता है जिसका मूल्य ही निश्चित न हो सकता हो, तो वह पदार्थ उत्तम उदाहरण और आदर्श है। और अपनी शक्ति के अनु-सार सर्वश्रेष्ठ उदाहरण उपस्थित करने का जो उत्तरदायित्व

है, वही दुर्जनों को सज्जन बना देती है। उस से अन्धकार का प्रकाश के रूप में परिवर्त्तन हो जाता है और टेढ़ी चीजें आपसे आप सीधी हो जाती हैं।

कभी कभी ऐसा अवसर भी आता है जब कि बड़े बड़े बहादुर भी असमंसज में पड़ जाते हैं और उन में दुर्बलता आ जाती है—उनके विश्वास और धार्मिकता का आधार हिल जाता है। परंतु यदि वे सचमुच बहादुर और श्रेष्ठ होते हैं तो अपने संदेह और दुर्बलता को छोड़कर फिर से अपने पुराने सिद्धांत पर आ जाते हैं। हमें सदा इस बात का विश्वास रखना चाहिए कि विश्व की व्यवस्था बहुत उत्तमता और बुद्धिमत्तापूर्वक की गई है और प्रत्येक मनुष्य को ऐसी व्यवस्था और नियमों के अधीन रहना चाहिए जिन्हें बदलना उनकी सामर्थ्य के बाहर है। साथ ही इस बात का भी विश्वास रखना चाहिए कि ईश्वर जो कुछ करता है, वह अच्छा ही करता है· सब मनुष्य एक दूसरे के भाई हैं. हमे सब के साथ प्रेम रखना चाहिए, उन्हें प्रसन्न करना चाहिए और यथासाध्य उन्हें सुधारने का प्रयत्न करना चाहिए। यह प्रयत्न करते समय हमें उन लोगों को भी न छोड़ना चाहिए जो किसी प्रकार हमारा अपकार करते अथवा हमें हानि पहुँचाते हों। उन्हें निंदनीय समझकर कभी छोड़ना न चाहिए। क्योंकि इससे उनके दोष और भी बढ़ जायँगे—केवल निंद्य समझने से उनका कभी सुधार नहीं हो सकता। और फिर

की दशा में पड़े पड़े उसके मन में अनेक प्रश्न उठे। वह अपने आपसे पूछा करता था—"क्या अपने जीवन में मुझ से कोई अच्छा काम हुआ है ? मैंने किसका दुःख दूर करके उसके चित्त पर का बोझ उतारा ? मैंने किसे सुखी किया ? मैंने कौन सा अच्छा काम किया ? क्या मेरे रहने से लोगों का कुछ उपकार हुआ—उनकी कुछ भलाई या उन्नति हुई ?" अपने आपसे उसने जो ये सब प्रश्न किए थे, उनके उत्तर उसके लिये संतोषजनक नहीं थे, क्योंकि उसने अपने जीवन में कभी कोई अच्छा काम किया ही न था। इसके बाद जब वह अच्छा हो गया, तब उसने बिलकुल नए ढंग से जीवन व्यतीत करना आरंभ किया। उसे उत्तम और परोपकार के कार्य्य करने के उसे अनेक क्षेत्र और अवसर भी मिल गए। उसमें उत्तम कार्य्य करने की शक्ति तो पहले से वर्त्तमान थी, परंतु प्रवृत्ति का अभाव था। बीमारी की दशा में उसमें वह प्रवृत्ति ईश्वरीय नियमों को समझने के कारण उत्पन्न हुई थी। उस दशा में उसके हृदय में जो प्रेम उत्पन्न हुआ था, वह सब आशाओं से बड़ा था और उसी प्रेम ने उसे कर्त्तव्य पालन की ओर लगाया था। यही वह प्रेम है जो ईश्वर हममें उत्पन्न करना चाहता है। इस प्रेम के कारण कर्त्तव्य का ज्ञान होता है और कर्त्तव्य के ज्ञान से हमारे जीवन का मार्ग स्वच्छ हो जाता है। इससे हमें सब बातों का ज्ञान प्राप्त करने और बड़ों की आज्ञा तथा ईश्वरीय नियमों का पालन करने में

आशा और विश्वास रखकर आगे बढ़ते रहना चाहिए और चाहे कुछ भी क्यों न हो जाय, सत्य और कर्त्तव्य के मार्ग से कभी हटना न चाहिए। साथ ही मार्ग में पड़नेवाले तरह तरह के लोभों से भी अपने आपको बचाना चाहिए; नहीं तो हम अवश्य कर्त्तव्य-भ्रष्ट हो जायँगे। इसके लिये हमें अपनी सारी मनोवृत्तियों को स्वार्थत्यागपूर्वक दबाने की आवश्यकता होगी। हम जानते हैं कि हमारा यह जीवन नश्वर है, हम अमर नहीं हैं, लेकिन फिर भी यह ज्ञान हमारे उच्च आदर्श तक पहुँचने और पूर्ण आनंदपूर्वक अपना जीवन व्यतीत करने में कभी बाधक नहीं हो सकता। और वास्तव में हमें सदा आनंदपूर्वक जीवन व्यतीत करते हुए अपने उच्च ध्येय की ओर बराबर बढ़ते रहना चाहिए; और नहीं तो हमारा जीवन बिलकुल निरर्थक हो जायगा और सत्कार्य्य करने की हम में जितनी शक्तियाँ हैं, वे सब धीरे धीरे व्यवहार में न आने के कारण नष्ट हो जायँगी।

युवावस्था में मनुष्य की सब बातें वृद्धि पर होती हैं और उसका चित्त अनेक प्रकार की उमंगों से भरा होता है। उसी समय वह संसार में प्रवेश करता है और अनेक रूपों में अपनी जीवन यात्रा आरंभ करता है। यदि इससे पहले से ही उसके माता-पिता ने उसके आचारों और विचारों आदि के संबंध में ठीक ठीक ध्यान रखा हो और उसके हृदय में उच्च और मानवोचित विचारों का बीज बो दिया हो तो

बिलकुल ही नष्ट हो जाय। हर एक बात का कुछ न कुछ
प्रभाव अवश्य बना रहता है। हम कभी कोई ऐसा अपराध
या अनुचित कार्य कर ही नहीं सकते जिसका कुछ न कुछ
दंड हमें न भोगना पड़े। जब हम किसी ईश्वरीय नियम को
भंग करके कोई अनुचित कार्य्य करते हैं, तब वह तुरंत ही
सारे संसार में प्रतिध्वनित हो उठता है। बातों और कार्यों
को हम चाहे कितना ही तुच्छ क्यों न समझें, पर फिर भी वे
क्षणिक नहीं बल्कि स्थायी होते हैं। कोई अनुचित वचन
अथवा कार्य्य कभी नष्ट नहीं होता। वह कभी न कभी फिर
संसार के सामने आ जाता है और उसका बुरा परिणाम
यदि हम जीते रहे तो हमें और नहीं तो हमारे बाद, हमारे
कारण, औरों को अवश्य भोगना पड़ता है। इसी लिये कहा
है—अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्मशुभाशुभम्। बुरे कार्य्य
और बुरे उदाहरण कभी नष्ट नहीं होते, बल्कि पैतृक संपत्ति
की तरह बराबर एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को
मिलते रहते हैं। बुरे काम करके मनुष्य स्वयं तो मर जाता
है, लेकिन उसकी बुरी कृति और उसकी स्मृति बराबर बनी
रहती है, उनका नाश कभी नहीं होता। एक विद्वान का कथन
है कि मनुष्य का प्रत्येक कार्य्य एक इतनी बड़ी शृंखला का
आरंभ करता है जिसका अंत करना मनुष्य की शक्ति के
बाहर है। एक दूसरे विद्वान् का कथन है कि हमारे प्रत्येक
अच्छे या बुरे कृत्य का हमारे आस पास के प्रत्येक अणु पर

समझ ले और दूसरों को भी समझा दे कि उसके प्रत्येक विचार, वचन और कार्य्य के लिये उस पर कितना बड़ा उत्तरदायित्व है। वह बुरे मार्ग से बचकर उसका विस्तार जहाँ तक हो सके, स्वयं रोके तथा दूसरों को उससे बचाकर उसका विस्तार रोकने में सहायता दे। जब बुरे मार्ग में जाना लोग बिलकुल छोड़ देंगे तब बहुत दिनों बाद कहीं जाकर उस बुराई का अंत होगा।

एक बार एक विद्वान् ने एक ऐसी छोटी पुस्तक पढ़ी थी जिसमें एक अमीर के अंतकाल के दुष्कर्मों और उन दुष्कर्मों के परिणामों तथा पश्चात्ताप का विवरण था। उस पुस्तक को पढ़कर उस विद्वान् के मन में यह बात इतनी खटकी कि उसे दृढ़ विश्वास हो गया कि जिन पुस्तकों में दूषित विचार अथवा दूषित कार्य्यों का वर्णन होता है, वे पुस्तकें भी दोषों की वृद्धि मे बहुत बड़ी सहायक होती हैं। और सच पूछिए तो दूषित वचनों की अपेक्षा दूषित पुस्तकें कहीं ज्यादा बुरी होती हैं। बुरे कार्य्यों की तरह बुरी पुस्तकों का भी आने-वाली पीढ़ियों के आचरण और विचारों के संघटन पर बुरा प्रभाव पड़ता है। बुरी पुस्तकें लिखकर स्वयं लेखक तो मर जाता है, परंतु वह अपने स्थान पर वह बुरी पुस्तके छोड़ जाता है जो बहुत दिनों तक बनी रहती हैं और समाज में अनेक प्रकार के दोषों और दुराचारों का प्रचार करती रहती है। एक विद्वान् का मत है कि यद्यपि स्वयं मुद्रणकला बहुत

भी अधिक मान में वे बुरी पुस्तकों के द्वारा संसार में बुरी बातों का प्रचार करते हैं। आज-कल विशेषतः पाश्चात्य भाषाओं में ऐसी लाखों पुस्तकें होंगी जिन्हें लेखकों ने अपनी चालाकी से बहुत ही आकर्षक और मनोरंजक बना डाला हो; परंतु जिनके गर्भ में बुरे से बुरे और दुष्ट से दुष्ट विचार भरे पड़े हों। आज-कल यह एक प्रथा सी चल पड़ी है कि पुस्तक की शैली तो बहुत मनोहर और आकर्षक कर दी जाती है, परंतु उसमें जो विचार और घटनाएँ आदि प्रदर्शित की जाती हैं, वे बहुत ही अपवित्र और लोगों को कुमार्ग में लगाने-वाली होती हैं। आज कल के अधिकांश उपन्यासों का आरंभ किसी चोरी, हत्या अथवा कलुषित प्रेम के वर्णन से होता है और अंत भी प्रायः इसी प्रकार की बातों से हुआ करता है। इस प्रकार ऐसी पुस्तकों के लेखकों का मानों यह उद्देश ही हो जाता है कि वे मानव-जीवन के बुरे से बुरे अंगों को लोगों के सामने रखें। ऐसी पुस्तकों के लेखकों को इस बात का सदा स्मरण रखना चाहिए कि किसी किताब का उसके लिखे जाने के हजार दो हजार बरस के बाद भी किसी मनुष्य के जीवन पर प्रभाव पड़ सकता है। संभव है कि कभी किसी का ध्यान उस पुस्तक की ओर आकृष्ट हो जाय और वह उस पुस्तक में प्रदर्शित विचारों के अनुसार अपने जीवन का उद्देश निश्चित कर ले। इस प्रकार हजारों बरस बाद भी लोगों के आचार और विचार परिवर्त्तित हो सकते हैं। और

कड़ाहे के नीचे लकड़ियों का बड़ा भारी ढेर लगा दिया गया जो भीषण रूप से जलने लगा। लेकिन लेखक के कड़ाहे के नीचे पहले तो बहुत धीमी आग थी, पर ज्यों ज्यों समय बढ़ता जाता था त्यों त्यों वह आग बराबर तेज होती जाती थी। डाकू के कड़ाहे के नीचे की आग तो मुद्दत हुई बुझ गई, परंतु लेखक के कड़ाहे के नीचे की आग सैकड़ों वर्षों तक जलती रही। ज्यों ज्यों समय बीतता जाता था, त्यों त्यों वह आग बराबर भीषण होती जाती थी। जब लेखक को अपने कष्ट का कोई अंत न दिखलाई दिया, तब वह जोर जोर से चिल्लाने लगा कि देवताओं के राज्य में न्याय बिलकुल नहीं है। मैंने अच्छी अच्छी पुस्तकों के ढेर लगा दिए और संसार में मेरी कीर्त्ति छाई हुई है, परंतु फिर भी मुझे एक डाकू की अपेक्षा हजारों लाखों गुना अधिक कष्ट मिल रहा है। इतने में नरक का प्रबंध करनेवाली स्त्रियों में से एक उसके सामने आई और बोली कि "नीच, तू अपने आपको डाकू के मुकाबले में कुछ भी पापी नहीं समझता। परंतु डाकू ने केवल उतने ही दिनों तक पाप किया जितने दिनों तक वह जीवित था; लेकिन तेरे लेखों का विष तेरे मरने के बाद अब तक बराबर बढ़ता और फैलता ही जा रहा है।" क्षण भर के लिये उसे संसार का दृश्य दिखलाकर वह फिर बोली " देख, तेरे कारण संसार में क्या क्या अनर्थ और अपराध हो रहे है। इन बालकों को देख जिन्होंने अपने कुल को कलंकित किया है। इन्हें दुष्कर्मों में

उपसंहार

नवयुक जिस समय संसार-क्षेत्र में उतरता और नया जीवन आरंभ करता है, उस समय उसका चित्त आनंद और उमंगों से भरा होता है। संसार को वह सब प्रकार के सुखों की खान समझता है और उन सुखों तक पहुँचने का स्वप्न देखने लगता है। लेकिन ज्यों ज्यों दिन बीतते हैं, त्यों त्यों उसकी उमंगें ठंढी पड़ती जाती हैं। अपने जीवन के प्रातः काल के उत्साह को वह दोपहर और रात तक स्थिर नहीं रख सकता। युवावस्था बीत जाती है और अंत में वह बुड्ढा होकर मृत्यु-मुख के समीप पहुँच जाता है।

लेकिन मनुष्य का अंत और कुछ नहीं, उसके गत जीवन का परिणाम मात्र है। जो मनुष्य अपने जीवन में बराबर पाप और अनुचित कृत्य कर आता है, उसे वृद्धावस्था में बहुत ही कष्ट होता है और मृत्यु से उसे बहुत भय लगता है। लेकिन सत्कर्म करनेवाले मनुष्य मानों वृद्धावस्था के दुःखों और मृत्यु के भय से बचने के लिये अपने उन्हीं सत्कर्मों का एक कवच सा धारण कर लेते हैं और उनके मन में एक नए प्रकार का आनंद और उत्साह आ जाता है।

लेकिन फिर भी एक न एक दिन मरना सभी को है। एक न एक दिन यम के दूत अवश्य आवेंगे और वे हमें उठा

हो जायेंगे। वे यह न देखेंगे कि हमारे सामने कितना काम रक्खा हुआ है या हम कितने निकम्मे नष्ट हैं। वे इस बात का भी विचार न करेंगे कि हम कितने आनंद में हैं अथवा भावी सुखों की कितनी आशा कर रहे हैं। मृत्यु आवेगी, अवश्य आवेगी और सब के लिये आवेगी। रंक से राजा तक कोई उसके पंजे से न छूटेगा। बुड्ढों को अपना स्थान युवकों के लिये और युवकों को अपने से भी छोटों के लिये खाली करना पड़ेगा। जिन लोगों की आकांक्षाओं का कोई अंत नहीं होता, वे जब देखते हैं कि हमारी आकांक्षाएँ सीमाबद्ध हो गई हैं, तब वे बहुत ही दुःखी हो जाते हैं। सिकंदर को इस बात का रोना था कि अब मेरे जीतने के लिये कोई राज्य ही बाकी न रह गया। महमूद गजनवी ने मरते समय सोने और जवाहिरात का सारा खजाना अपने सामने मँगवाया और एक बार उस सारे खजाने को देखकर वह बालकों की तरह रोता हुआ बोला—हाय! मैंने इसे प्राप्त करने और रक्षित रखने के लिये कैसे कैसे शारीरिक और मानसिक कष्ट उठाए और अब मैं इन सब को यहीं छोड़कर चला जाऊंगा! फ्रांस के राजा नवें चार्ल्स ने एक बार एक त्योहार की रात को कुछ बेगुनाहों का कत्ले-आम कराया था। उसके दो बरस बाद तक वह जीता रहा; परंतु उस कत्ले-आम का भीषण दृश्य कभी उसकी आँखों के सामने से न हटा। उसकी आँखों के सामने सदा निरपराधों की लाशों के ढेर लगे रहे और नए

भर के लिये भी उसके चित्त को कभी शांति न मिली।

यह उन सब लोगों की दशा हुई थी जिन्होंने अपने जीवन में अपने कर्त्तव्यों का पालन न करके अनुचित कर्म किए थे। लेकिन जो लोग अपने कर्त्तव्यों का पालन करते हैं, वे साम-यिक अथवा असामयिक किसी प्रकार की मृत्यु से नहीं डरते। सुकरात और मीराबाई ने बहुत ही प्रसन्नतापूर्वक अपने हाथ से जहर का प्याला पिया था। गुरु गोविंदसिंह के छोटे छोटे दोनों बालकों ने अपने आपको बहुत ही प्रसन्नता-पूर्वक जीते जी दीवार में चुनवा लिया। सर हेरीवेल ने फाँसी पर चढ़ते समय कहा था कि ईश्वर को धन्यवाद है कि मैं अपने सत्यपथ से नहीं गिरा। जब सर वाल्टर रेले के प्राण लिए जाने लगे, तब हत्यारे ने उनसे कहा कि अपना सिर पूरब की तरफ करो। उन्होंने उत्तर दिया--सिर चाहे जिधर रहे, दिल हमेशा सीधा और सच्चा होना चाहिए। सर वाल्टर स्काट ने मरते समय अपने दामाद से कहा था— "सदा धार्मिक रहो और अच्छे काम करो। मरने के समय इन्हीं दोनों के कारण तुम को सब से अधिक सुख मिलेगा।" कान्ट ने अस्सी बरस की अवस्था में बहुत ही आनंदपूर्वक अपने प्राण त्यागे थे और कहा था कि यदि मैंने कभी किसी मनुष्य को किसी प्रकार का दुःख या कष्ट पहुँचाया होता, तो मेरा यह अंतिम समय इतना सुखपूर्ण न होकर बहुत ही दुःखपूर्ण होता।

इस जीवन धारण करने का तो केवल एक ही मार्ग है, परंतु उसके त्यागने के हजारों लाखों मार्ग हैं। न जाने किस प्रकार, किस समय और किसके द्वारा अचानक हमारी मृत्यु आ जाय। ईश्वर ने हमें जन्म दिया है और साथ ही सत्कर्म करने की शक्तियां भी दी हैं। हमें सदा सत्यतापूर्वक आचरण और परिश्रम करना चाहिए, अपने भाइयों के साथ प्रेम करना चाहिए और उनके प्रति अपने कर्तव्यों का पालन करना चाहिए। धर्म और कुछ नहीं, केवल सदाचार और कर्तव्य-पालन है। हमें सदा उत्साहपूर्वक अपने कर्तव्यों के पालन में लगे रहना चाहिए और अपने आचरण को कभी दूषित न होने देना चाहिए। मनुष्य का सच्चा धन वही सत्कर्म है जो वह अपने भाइयों के साथ करता है। किसी के मर जाने पर लोग तो केवल यही पूछते हैं कि वह कितनी संपत्ति छोड़कर मरा? लेकिन यमदूत उससे पूछते हैं कि तुमने कौन कौन से सत्कर्म किए? ऐसी दशा में हमें सदा यमदूतों को संतोषजनक उत्तर देने के लिये तैयार रहना चाहिए और वह अवसर ही न आने देना चाहिए जब कि हमें इस बात का पश्चात्ताप करना पड़े कि हाय, हम ने अपने जीवन के दिन बिलकुल व्यर्थ बिता दिए।

Printed by Krishna Ram Mehta at the Leader Press, Allahabad.